गांधी-मार्ग

०

लेखक

आचार्य जी० भ० कृपलानी

अनुवादक और संपादक

श्री रामनाथ 'सुमन'

०

प्रकाशक

साधना - सदन
इलाहाबाद

०

ढाई रुपये

प्रकाशक : साधना-सदन, इलाहाबाद

दिसंबर १६४७

०

गांधी विचार-धारा की पुस्तकें

१.	गांधीवाद की रूपरेखा (सुमन)	१॥।)
२.	स्त्रियों की समस्यायें (गांधी जी)	१॥)
३.	अमृतवाणी (गांधी जी)	१॥)
४.	गांधीवाणी (सुमन)	३)
५.	युगाधार गांधी (सुमन)	२)
६.	गांधी-मार्ग (आ० कृपलानी)	२॥)
७.	अहिंसक क्रांति " "	॥=)
८.	समग्र ग्राम सेवा की ओर (धीरेन भाई)	८)
९.	सेवाधर्म (अप्पा पटवर्धन)	२।)

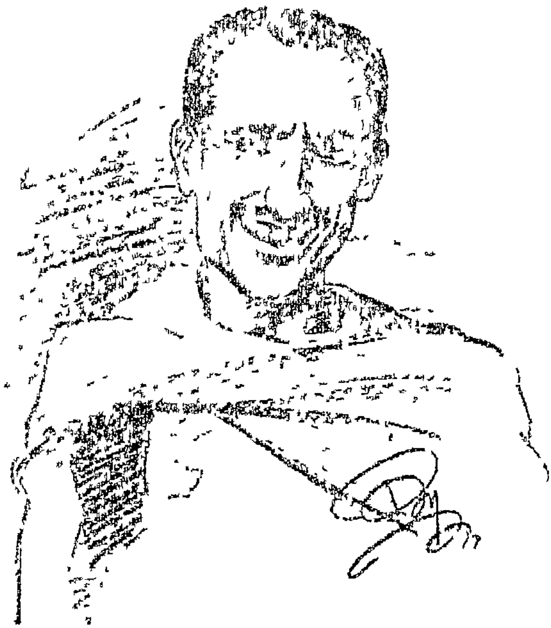
साधना-सदन
इलाहाबाद

मुद्रक—केशव प्रसाद खत्री, इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, इलाहाबाद।

विषय-क्रम

० ० ०

तृतीय खण्ड : समन्वय : १३१–१६८



आचार्य कृपलानी :—पेंसिल स्केच

चित्रकार—श्री पी मुकर्जी

"आचार्य कृपलानी के विचार करने और लिखने के ढंग में कुछ ऐसी चीज़ है जो दूसरों पर उसे विशिष्टता प्रदान करती है और जो लोग उन्हें जानते हैं वे तुरन्त बता दे सकते हैं कि फलाँ चीज़ उनकी लिखी हुई है। वर्तमान संग्रह ने हमारे मन पर यही छाप छोड़ी है।"

—गांधी जी (पुस्तक के गुजराती संस्करण की भूमिका से)

दो शब्द

आचार्य कृपलानी की यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता की अनुभूति होती है। १६२० के असहयोग के आरंभकाल में पहली बार मैं उनके सम्पर्क में आया। उनकी वाणी सुनी; उससे अधिक उन्हें निकट से देखा। उनकी अदम्य देश-भक्ति, उनका त्याग, उनकी वीर-भावना देखी। और यद्यपि उस समय विशेष गहराई से अध्ययन करने योग्य न था फिर भी उनकी गहरी चिन्ताशीलता की एक छाप मन पर पड़ी जो आज भी ज्यों की त्यों है।

उन दिनों मेरी जिज्ञासा और तार्किकता के कारण अपनी सहज वत्सलता-वश वह मुझे 'फिलासफर' कहा करते थे। गांधी जी के प्रति जो मेरा झुकाव था, वह उनके सम्पर्क से दृढ़ होता गया। आज जो मैं गांधी-

प्रवर्तित जीवन-मार्ग का एक विद्यार्थी और अनुयायी बन पाया हूँ, उसका बीज उन्हीं के सत्संग से मेरे मन में बोया गया था।

फिर बीस वर्ष तक मैं अपने प्रान्त से दूर-दूर रहा और उनके सम्पर्क में आने का फिर वैसा अवसर नहीं मिला। किन्तु वह बीज बराबर विकास के क्रम में अंकुर और पौधे का रूप धारण करता गया। और यद्यपि मैं जीवन के कर्म-क्षेत्र में उनके निजी पथ-दर्शन से दूर होता गया पर उनका मानसिक प्रकाश मुझे बराबर मिलता रहा और उस प्रकाश में मैंने ज्यों-ज्यों बापू तथा उनके जीवन-सिद्धान्तों का अध्ययन किया त्यों-त्यों भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति उनकी अनुपम देन के लिए हृदय श्रद्धानत होता गया।

इसलिए आज आचार्य की—जिन्हें हम लोग प्रेम से 'दादा' कहते हैं—रचना हिन्दी पाठकों के सामने रखते हुए मुझे व्यक्तिगत रूप से तो प्रसन्नता होती ही है पर साधना-सदन के संचालक के रूप में भी मुझे कुछ कम प्रसन्नता नहीं है क्योंकि इससे हम अपने विशिष्ट कर्तव्य की पूर्ति में कुछ न कुछ आगे बढ़े हैं।

•   •   •

आचार्य कृपलानी भारतीय समाज-जीवन में गहरी चिन्तना और उसकी ओजस्वी एवं व्यंगमयी अभिव्यक्ति-शैली के प्रतिनिधि हैं। वंश-वैभव, निजी रोमांटिक आकर्षण, पार्टीबन्दी के बिना केवल सेवा और सच्ची आत्मनिष्ठा के बल पर वह राष्ट्रपति के पद तक पहुँचे और उसी आत्म-निष्ठा और सच्चाई के लिए एक क्षण में उन्होंने उसका त्याग भी कर दिया। वह स्वभावतः एक चिन्तक, एक विचारक हैं, यद्यपि उसके साथ ही उनमें कर्मठता भी है। कोई गहरा विचारक कभी भेंड़ बनकर नहीं जी सकता। इसलिए हर जगह वह एक विद्रोही प्रतिभा के रूप में रहते हैं,—वह प्रतिभा जो यश के प्रलोभनों और उच्चतम पदों के प्रलोभन का केवल उपहास कर सकती है!

इस जीवनमय चिन्ता-वृत्ति ने उनमें एक व्यंग-शैली का उद्भव किया है। उनकी शैली अपनी है; उनके लिखने और बोलने, सोचने-समझने का ढंग अपना है। उसमें गहरी ईमानदारी है, इसीलिए आज की बनी हुई जीवन-विधि में उनकी स्पष्टोक्तियाँ कभी-कभी हमें गहरा ठेस पहुँचाती हैं। हमारी जीर्ण परम्परा और चिन्तन-शैली को झकझोर कर उन पर एक नया प्रकाश डालना ही उनका लक्ष्य होता है। पर वे चोट विचार-धाराओं पर करती हैं, व्यक्तियों पर नहीं। इसीलिए मंच पर एक विशेष विचार-धारा के टुकड़े-टुकड़े करने वाले और विरोधी को व्यंगों के प्रहार से आतंकित कर देने वाले कृपलानी जी निजी जीवन में अत्यन्त प्रेमल 'दादा' के रूप में मिलते हैं।

उनकी व्यंगमयी शैली के कारण उनकी रचनाओं का अनुवाद करना कुछ सरल कार्य नहीं; फिर भी मैंने मूल का प्रसाद और ओज दोनों हिन्दी में लाने को पूरी चेष्टा की है। पर यह पुस्तक केवल अंग्रेजी के 'गांधियन वे' का अनुवाद नहीं है; उससे इसमें कई रचनाएँ अधिक हैं। पाँच-छः लेख तो पहली बार हिंदी में आ रहे हैं और दो तीन ऐसे हैं जो अंग्रेजी में भी नहीं आये हैं। १९४७ तक के लेख इसमें आ गये हैं। इसलिए पुस्तक अंग्रेजी 'गांधियन वे' की अपेक्षा अधिक अद्यतन (अप-टु-डेट) हो गई है और गांधी विचार-धारा पर इससे अंग्रेजी पुस्तक की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकाश पड़ता है। जो लेख पुराने हो गये थे या जिनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ था जो सामान्य पाठक में आज कुछ उलझन पैदा करते उन्हें टिप्पणियाँ देकर बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा की गई है।

आज जब साम्प्रदायिक उत्तेजना में भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक उद्धार-कर्ता को देश और हिन्दू जाति भूल रही है और गहरे कृतघ्न मानस से उसके चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने की जगह तिरस्कार और उपहास की वर्षा उस पर हो रही है, तब डिगी हुई मानव-श्रद्धा के

इन विप्लवपूर्ण वर्षों में यह पुस्तक जनता के सामने रखते साधना-सदन अपने अस्तित्व की सार्थकता की किंचित् अनुभूति करे तो यह क्षम्य होगा।

—श्री रामनाथ 'सुमन'

साधना-सदन एक सिद्धान्तवादी प्रकाशन-संस्था है। इसकी पुस्तकें पढ़ना जीवन में प्रकाश और शक्ति को निमंत्रण देना है।

गांधी-मार्ग

प्रथम खण्ड

चर्खा

: १ :

खादी और उद्योगीकरण

शिक्षित लोग, विशेषतः समाजवादी, चर्खा और खादी के विरुद्ध अपना सबसे प्रिय, और अपनी समझ से सबसे जबर्दस्त, तर्क जो पेश करते हैं यह है कि इनके कारण आधुनिक प्रगति की घड़ी की सुइयाँ रुक जाती हैं, बल्कि पीछे की ओर घूमने लगती हैं। पश्चिम के वैभव से प्रभावित होकर वे यह सोचने लगे हैं कि भारत की गरीबी की समस्या सिर्फ़ देश के उद्योगीकरण से ही हल हो सकती। स्पष्ट है कि इन मित्रों को आधुनिक पाश्चात्य उद्योगीकरण के इतिहास का विवेचनात्मक अध्ययन करने का अवसर ही नहीं मिला है। अगर उन्होंने गहराई के साथ अध्ययन किया होता तो वे इतने कट्टर न होते। चाहे पूर्व में हो या पश्चिम में, सभी जगह और उद्योगीकरण के हर क़दम पर इन उद्योगपतियों के पीछे एक राष्ट्रीय अल्पजनसत्तात्मक यानी चंद प्रभावशाली लोगों के गुट की सरकार का ज़बर्दस्त हाथ रहा है। इतना ही नहीं, ज्यादातर मुल्कों में तो इस तरह की अल्पजनसत्तात्मक सरकारों को वस्तुतः मालदार और उद्योगपति लोग ही सीधे-सीधे चलाते थे, या फिर अप्रत्यक्ष रूप से उनके कठपुतलों के जरिये ये सरकारें चलाई जाती थीं। आज भी ऐसा ही है। आधुनिक सरकारों के खिलाफ समाजवादियों के हमले का खास मुद्दा यही रहता है कि वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में बड़े-बड़े उद्योगपतियों-द्वारा अपनी पूँजी के हित-रक्षण के लिए चलाई जाती हैं। इस प्रकार शक्ति एक छोटे से गुट के हाथ में केन्द्रित कर देने के अलावा किसी खेतिहर देश के उद्योगीकरण का दूसरा कोई रास्ता इतिहास को मालूम नहीं। रूस के हाल के प्रयोग से भी यही बात सिद्ध होती है। वहाँ भी एक शक्तिमान अल्पदल या गुट ने

सारी शक्ति और ज़मीन के सब साधनों पर कब्ज़ा करके देश को उद्योग-प्रधान बना दिया है—इसमें कभी-कभी तो उसे देश की जनता की इच्छाओं के विरुद्ध भी जाना पड़ा है। हाँ, पूँजीवादी देशों की तरह, जनता के एक बहुत छोटे हिस्से यानी पूँजीपतियों के हितों की रक्षा के लिए वहाँ उद्योगीकरण नहीं हुआ बल्कि सर्वहारा जनता के लिए हुआ। फिर भी जिन साधनों का उपयोग किया गया है वे वही हैं—सम्पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक सत्ता एक सुगठित और दृढ़ अल्पसमूह के हाथ में है—एक ऐसे गुट के हाथ में, जिसकी नीति निश्चित है और जो जानता है कि उसे क्या करना है। हिन्दुस्तान की सरकार का रूप भी अल्पजनसत्तात्मक है, यानी एक गुट का उसपर प्रभुत्व है पर चूँकि यह गुट विदेशी* है इसलिए वह इस देश के उद्योगपतियों और पूँजीपतियों के लाभ के लिए नहीं बल्कि इँग्लैंड के पूँजीपतियों के हित के लिए काम करता है। अगर वर्तमान नौकरशाही की जगह किसी देशी गुट या अल्प समूह की सरकार स्थापित हो जाय तो उसके लिए भी इस दिशा में कुछ काम करना संभव होगा बशर्ते कि उसे विदेशों से आवश्यक पूँजी और उद्योग-धन्धों के विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त हो सके। ये दोनों सहूलियतें विदेशियों को बहुत काफ़ी रियायतें दिये बिना नहीं प्राप्त हो सकतीं और उस हालत में भारत की सार्वभौम सत्ता को बहुत दिनों तक क्षति उठानी पड़ेगी।

आधुनिक उद्योग-धन्धों की वृद्धि—उद्योगीकरण—का दूसरा अंग विदेशी बाज़ार हैं। इन विदेशी बाज़ारों का मतलब वे पिछड़े हुए मुल्क हैं जहाँ से कच्चा माल मिलता है और जो बनी-बनाई चीज़ों के बाज़ार बने हुए हैं। उन कारणों का सभी को पता है जिनसे इन पिछड़ी जातियों के आर्थिक शोषण का क्षेत्र अब संकुचित होता जा रहा है, और इसीलिए युरोप, अमेरिका और एशिया के कुछ हिस्सों में विकसित उद्योग-धन्धों के सामने कठिनाइयाँ दिन-दिन बढ़ती जाती हैं। इन्हीं कठिनाइयों के कारण पिछला

---

*अब स्थिति बदल गई है।—संपादक।

युरोपीय महायुद्ध (१९१४–१८) हुआ था और यदि समय पर साहसिक उपायों से काम नहीं लिया गया तो, भविष्य में उससे भी अधिक विस्तृत तथा विनाशकारी विश्वयुद्धों का फल हमें चखना पड़ेगा। ऐसे चन्द युद्धों के बाद हमारी पृथ्वी पर कोई देश न बचेगा—देश जो इतना 'सभ्य' हो कि भविष्य में उद्योगीकरण की इच्छा करे!

पर क्या उद्योगप्रधान देशों में भी जनसमूह की गरीबी की समस्या हल हो गई है? एक वक्त था कि कुछ भाग्यवान देशों में यह मसला सुलझने के करीब आ गया था लेकिन पूर्व और पश्चिम के दूसरे देशों में भी जब उनकी नक़ल शुरू हुई तो सारी व्यवस्था गड़बड़ हो गई। आज तो कोई उद्योगप्रधान पूँजीवादी देश ऐसा नहीं बचा है जो बेकारी या बेरोजगारी से पीड़ित न हो और यह व्याधि जीर्ण और स्थायी बनती जाती है। इस दुर्दशा की ज़िम्मेदारी पूँजीवादी शासन के अन्तर्गत धन की विषम उत्पत्ति और वितरण पर डाली जाती है और आशा की जाती है कि संयोजित एवं सुगठित राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से इस दोष का निराकरण हो जायगा। यह बात रूस, संयुक्तराज्य अमेरिका इत्यादि चंद बड़े देशों में, जो बहुत कुछ कच्चे माल के विषय में आत्मनिर्भर हो और जहाँ, देश में ही, पक्के माल की खपत के लिए बड़े-बड़े बाजार हों, संभव हो सकती है। पर जहाँ तक इंग्लैंड तथा युरोप के छोटे देशों और जापान आदि का सम्बन्ध है, यदि औपनिवेशिक या शासित बाज़ार उनके हाथ से निकल जायँ तो संयोजित राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से कुछ परिणाम न निकलेगा। अगर वे कुछ थोड़ा कर भी सके तो न केवल एक वर्ग के लिए बल्कि उस देश के सभी वर्गों के लिए अपने वर्तमान जीवन-मान में काफ़ी कमी करनी पड़ेगी। जो हो, अनुकूल परिस्थिति में, स्वतन्त्र भारत के लिए एक संयोजित अर्थ-व्यवस्था सम्भव हो सकती है। हाँ, इसके लिए दोहरी क्रान्ति की आवश्यकता होगी—एक वह जो हमें राष्ट्रीय स्वाधीनता प्रदान करे; दूसरी जो एक सुगठित अर्थव्यवस्था हमारे सामने उपस्थित करे—फिर चाहे वह फ़ासिस्त ढंग की हो, या बोल्शेवी तरीक़े की। जबतक ये

क्रान्तियां नहीं होतीं तबतक वाञ्छनीय हो तो भी देश के उद्योगीकरण की बातें करना फ़िजूल है।

हाल में कुछ प्रान्तीय कौंसिलों में किसी न किसी चीज़ के लिए संयोजित अर्थ-व्यवस्था पर कुछ बातें हुई हैं। पर इनसे वक्ताओं का घोर अज्ञान सूचित होता है। इनको केवल यही सोच कर भूला जा सकता है कि इस प्रकार की धारणाएँ भाषाशास्त्रियों—कौंसिलवालों—के दिमाग़ में पैदा होती हैं, जो संसार भर में कोई चतुर समुदाय नहीं समझा जाता; फिर भारत में उनके अज्ञान का क्या ठिकाना, क्योंकि यहाँ वे ऐसी कौंसिलों से सम्बन्धित हैं जिनमें वास्तविकता और गंभीरता का बिल्कुल अभाव है। सिर्फ़ उत्पत्ति के लिए कोई अर्थयोजना नहीं बनाई जा सकती, न एक-दो धन्धों में सुगठित अर्थयोजना काम में लाई जा सकती है। इस प्रकार की संयोजित अर्थव्यवस्था के लिए कम से कम एक सम्पूर्ण देश की इकाई आवश्यक है। इसमें उत्पादन एवं वितरण दोनों की व्यवस्था समान रूप से और साथ-साथ होनी चाहिए। बिना इसके वैज्ञानिक अर्थ में कोई सुगठित अर्थयोजना नहीं बन सकती।

भारतीय उद्योग-धंधों की इधर की प्रगति का इतिहास देखने से मालूम होता है कि आज भारत की जो स्थिति है उसमें उसके उद्योगीकरण की क्या संभावनाएँ अथवा मर्यादाएँ हैं। स्वदेशी आन्दोलन से कपड़े के उद्योग को जो महान् संरक्षण प्राप्त है उसके बावजूद वह सदा सहायता और संरक्षण के लिए सरकार के दरवाजे पर मँडराया करता है। सरकार इसी आश्वासन पर उसकी सहायता करती है कि वह शिष्टाचार का पालन करेगा यानी सरकारी योजनाओं का समर्थन करेगा। सरकार की योजनाएँ, पहले अपने मालिकों—लंकाशायर की सहायता करने और उसके बाद साम्राज्य-नीति-वश जापान को नाराज न करने के उद्देश्य से बनाई जाती हैं। इन दो दिशाओं में सरकार जो भी करे भारतीय वस्त्र-उद्योग के मालिकों को उसका समर्थन करना पड़ेगा। ओटावा पैक्ट तथा लंकाशायर और जापान के साथ हुए समझौते इसके प्रमाण हैं। वस्त्र-

उद्योग को सरकारी संरक्षण से जितना लाभ हुआ, इन समझौतों के कारण उससे कहीं अधिक क्षति उठानी पड़ी। पहले की भाँति ही आज भी वह सर्वनाश के दरवाज़े खड़ा है। यह सन्देहास्पद संरक्षण भी कांग्रेस के खिलाफ़ सरकार का साथ देने की क़ीमत पर खरीदा गया—उस कांग्रेस के खिलाफ़ जो दूरदृष्टि से देशी मिलों की सर्वोत्तम हितू सिद्ध होती, यदि मिल-वालों को इतना समझने का दिमाग़ होता। अन्य भारतीय उद्योगों का इतिहास भी इसी प्रकार की दुःखदायी कहानी से भरा है। युद्धकाल में सरकारी संरक्षण से चन्द उद्योग-धन्धे बढ़े पर युद्ध समाप्त होते ही यह संरक्षण भी समाप्त हो गया। उन्हें ब्रिटिश बाज़ार में हस्तक्षेप करनेवाला समझा गया। यह एक बदनाम बात है कि भारत सरकार की सम्पूर्ण व्यापारिक, औद्योगिक और आर्थिक नीति मुख्यतः इंग्लैंड के महान् व्यवसायपतियों-द्वारा संचालित है। और यह बिल्कुल स्वाभाविक है। अंग्रेज हिन्दुस्तान में कुछ परोपकार करने तो आये नहीं। यह उम्मीद करना कि वे ब्रिटिश धन्धों को हानि पहुँचाकर भारतीय उद्योग की मदद करेंगे या उसके लिए अपनी साम्राज्य-नीति को क्षति पहुँचायेंगे, महज़ अपने को धोका देना है।

पिछले चालीस वर्षों में भारत में उद्योग-धन्धों की जो कुछ प्रगति हुई है उसे चाहे सरकार से मदद मिली हो या न मिली हो, जनता की सहायता और समर्थन उसे बराबर मिला है। आइए, हम परिणाम पर ज़रा ग़ौर कर लें।

खेती पर निर्भर करने वाली जनता का औसत यों है—

१८९१	में	आबादी का	६१	सैकड़ा
१९०१	में	,,	६६	,,
१९११	में	,,	७१	,,
१९२१	में	,,	७२.८	,,

१९३१ की संख्याएँ आबादी की रिपोर्ट में स्पष्ट नहीं दी हुई हैं

पर उसमें दिये गये आँकड़ों के जरिये उसका अन्दाज़ा कर लेना कुछ मुश्किल नहीं है। वे लगभग ७३ सैकड़ा होती हैं।

ये आँकड़े आँख खोलने वाले हैं। इनसे पता चलता है ज़मीन पर बराबर बोझ बढ़ता जा रहा है। इनसे तो यही सिद्ध होता है कि वर्तमान शासन में उद्योगीकरण के लिए भारत को क़यामत के दिन तक ठहरना पड़ेगा।

इसके अलावा उद्योगीकरण के समर्थकों के लिए क्या यह अधिक उचित न होगा कि वे और उद्योगीकरण की बातें करने की जगह वर्तमान ढहते हुए उद्योगों की रक्षा करें? आज तो जैसी स्थिति है, बिना राष्ट्रीय सरकार बने उद्योगीकरण के क्षेत्र में कोई विशेष कार्य नहीं किया जा सकता। तब यह सवाल सहज ही उठता है कि क्या हमें अपने करोड़ों भूखे-नंगे देशवासियों की मदद के लिए राष्ट्रीय सरकार के आने को चुप बैठकर प्रतीक्षा करनी चाहिए? यदि हम जनता की गरीबी दूर करने के पूर्व उद्योगीकरण चाहें तो फिर हमें पसन्द हो या न हो, हमें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

फिर भी बीच के समय में इस पीसने वाली गरीबी की मुसीबतों और भयंकरताओं को दूर करने के लिए कुछ न करना बेदर्दी की बात होगी। प्रभावशाली तरीक़े पर स्वराज का काम वे ही कर सकते हैं जो जनता की गरीबी को तीव्रता के साथ अनुभव करते हैं। यदि वे स्वराज के लिए काम करते हुए भी अपने देश-भाइयों की स्थिति सुधारने के कुछ न कुछ उपाय न करें—फिर चाहे वे कितनी ही थोड़ी सीमा तक सहायक हों—तो वे अपने धर्म से गिरते हैं। नहीं, यह काम ही स्वराज का काम है। वर्तमान स्थिति में कष्ट-निवारण का यह काम चर्खा और खादी सब से अच्छे तरीके पर कर सकती है। इससे हमें जनता के सम्पर्क में आने और उसको प्रभावित करने का मौका भी मिलता है और जनता की अमली मदद या कम से कम निष्क्रिय समर्थन के बिना कोई राष्ट्रीय क्रान्ति संभव नहीं।

इस बहस में मैंने गांधी जी के व्यक्तित्व और विचारों को बिल्कुल अलग रखा है। ऐसा मैंने इसलिए किया है कि चरखा के विरोधी मुख्य

बात के विषय में भ्रम पैदा करने के उद्देश्य से गांधी जी के यंत्र, पाश्चात्य सभ्यता, संयम और धर्म-सम्बन्धी विचारों को बीच में घसीट लाते हैं। ऐसा न हो इसलिए मैंने इस बहस से उनके विचारों और व्यक्तित्व को अलग ही रखा है। मैं चाहता हूँ कि यह बहस बिल्कुल ऐतिहासिक, आर्थिक और वैज्ञानिक रहे।

—गांधी जयन्ती १९३४]

—:o:—

: २ :

समाजवाद और खादी

आज कल समाजवाद की धूम है। देश में सब जगह समाजवादी संघ और सभाएँ बन रही हैं। ऐसा सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारी दुनिया में हो रहा है। समाजवाद युग की धारणा-सा जान पड़ता है। इसने दुनिया के बहुत-से श्रेष्ठ विचारकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। फासिस्तवाद और नात्सीवाद ने भी, जो इसके विरोधी हैं, समाजवादी चोला ग्रहण किया है और इसकी शब्दावली और फिक़रे इस्तेमाल करते हैं। इसलिए प्रत्येक नवीन सामूहिक सुधार या सामूहिक आन्दोलन को अपने अस्तित्व की उपयोगिता समाजवाद के उद्देश्यों के अर्थ में प्रमाणित करनी होगी। आइए देखें कि खादी अपनी उपयोगिता इस अर्थ में सिद्ध कर सकती है या नहीं।

समस्या के वैज्ञानिक और व्यवस्थित विवेचन के लिए इस बात की स्पष्ट धारणा होनी आवश्यक है कि समाजवाद क्या चाहता है? यदि हम इस शोध में किसी पक्षपात या पहले से ही कर ली हुई कल्पना से दूर रहकर

सोचें तो हमें तुरन्त मान लेना पड़ेगा कि अर्ध-शिक्षित तथा विवेचना-शून्य आदमियों के दिमाग़ में समाजवाद का धर्म, यौन-सदाचार, कुटुम्ब, राज्य के प्रकार, उद्योगीकरण तथा अन्य बहुत-सी चीज़ों के साथ जो सम्बन्ध गढ़ लिया गया है वह समाजवाद का सारभूत सिद्धान्त या तत्त्व नहीं है। समाजवाद का तत्त्व उसके 'फालतू मूल्य' ('surplus value') के सिद्धान्त में (फिर चाहे वह गलत हो या सही) निहित है। इसी 'फालतू मूल्य' के ज़रिये जन-समूहों का शोषण जारी रहता है। यही 'फालतू मूल्य' मुनाफ़ा, किराया और सूद की शक्ल में प्रकट होता है। जिस उद्योग या व्यवसाय में 'फालतू मूल्य' नहीं बचता यानी जिसमें मुनाफ़े, किराये या ब्याज के लिए गुंजाइश नहीं है, उसे समाजवादी उद्योग समझना चाहिए। वैज्ञानिक तात्पर्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि ऐसे व्यापार-धन्धों के प्रवर्त्तक ईश्वर में विश्वास रखते हैं या भौतिकतवादी हैं; इससे मतलब नहीं कि वे एक प्रकार के यौन-नियमों में विश्वास रखते हैं या दूसरे प्रकार के; वे उद्योगीकरण में आस्था रखते हैं या नहीं; उनमें समाजवाद का मूल तत्त्व विद्यमान है।

अब देखिए; खादी के उद्योग में 'फालतू मूल्य' के लिए कोई गुंजाइश नहीं है; उसमें किराये, ब्याज या मुनाफ़े के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जो कुछ मुनाफा होता है सब उसी क्षेत्र की सेवा का भार उठाने में खर्च होता है; वास्तविक या काल्पनिक सेवा करने वाले किसी दूसरे वर्ग को कुछ नहीं बँटता। इस क्षेत्र में काम करने वालों के वेतन में भी बहुत-कुछ समानता है। चंद आँकड़ों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक जुलाहे की औसत आय १३ से १५ रुपये, धोबी की १२ से १५ रुपये, पेंटर की २५ से ३० रुपये और बढ़ई की २५ से ३० रुपये मासिक है।*

---

*ये सब आँकड़े युद्ध के पूर्व (१९३४) के हैं। इधर स्थिति बहुत बदल गई है। आज के अंक दूसरे होंगे, फिर भी उनमें समानता का वही अनुपात कायम है।—संपादक।

कतवैये की आमदनी ज़रूर कम है पर कताई सिर्फ़ एक आंशिक (पार्ट टाइम) फुर्सत का धंधा है। इस कार्य के व्यवस्थापकों और संगठन-कर्त्ताओं को, जिनमें कुछ ऊँची शिक्षा पाये हुए व्यक्ति भी हैं, औसतन २० रुपये मासिक मिलता है। (ये अंक गांधी आश्रम, युक्तप्रान्त के हैं।)

'फालतू मूल्य' के सिद्धान्त के ही फल—स्वरूप समाजवाद ने उत्पादन के साधनों के समाजीकरण (समाज या राष्ट्र के स्वामित्व) पर ज़ोर दिया है। जहाँ तक खादी का सम्बन्ध है, उत्पादन के साधन चर्खा और करघा हैं। इनका समाजीकरण करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इनकी तैयारी में इतना कम खर्च पड़ता है कि औसत ग्रामवासी उन्हें ले सकता है। जहाँ ग्रामवासी उनका उपयोग करने की इच्छा रखते हुए भी इन प्राचीन और सरल मशीनों को खरीदने में असमर्थ होता है तहाँ चर्खा-संघ, जो एक सार्वजनिक संस्था है, उनकी मदद करता है। इसलिए वास्तव में तो इन अविकसित साधनों का समाजीकरण हुआ-सा ही समझना चाहिए।

उत्पादन का दूसरा शक्तिमान साधन पूँजी है। इसका समाजीकरण हो चुका है क्योंकि वह सब चर्खा-संघ के हाथ में है। चर्खा-संघ एक सार्वजनिक सम्पत्ति है, जो किराया, ब्याज या मुनाफ़ा के रूप में कुछ नहीं कमाता। जो चंद उत्पादनकर्ता व्यक्तिगत रूप में इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं उन्हें भी चर्खा-संघ—द्वारा निश्चित मान—स्टैंडर्ड—का पालन करना पड़ता है। उन्हें चर्खा-संघ से प्रमाणपत्र लेना पड़ता है। उनके हिसाब-किताब और मूल्य पर निगरानी और रोक रहती है। इन बातों के अलावा उन्हें स्वयं चर्खासंघ की स्पर्धा करनी पड़ती है। इसलिए उन्हें उतने ही मुनाफ़े पर सन्तोष करना पड़ता है जिससे अच्छे रूप में उनकी मजदूरी (परिश्रम का बदला) निकल आवे। वस्तुतः समस्त खादी उद्योग एक समाजवादी प्रयोग, एक समाजवादी उद्योग है। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि यदि वर्तमान विदेशी सरकार की जगह देशी सरकार की

स्थापना हो जाय तो राष्ट्रीय सरकार खादी को सर्वहारा जनता के लाभ के लिए राष्ट्रीय उद्योग के रूप में चलायेगी।

समाजवाद का तर्क पदार्थवादी तथ्यों पर आश्रित है। आज पश्चिम से समाजवादी तथा बोल्शेवी साहित्य का प्रति दिन बढ़ता जाने वाला जो प्रवाह हमारे देश में आ रहा है और जिसे हम अत्यन्त उत्सुकता के साथ ग्रहण कर गले के नीचे उतारते जा रहे हैं उसे इसकी जगह पर स्थापित करने की भारतीय समाजवादी चाहे जितनी चेष्टा करें पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि समाजवादी सिद्धान्त दृढ़ 'पदार्थवादी—प्रत्यक्ष—तथ्यों' पर आश्रित होने का दावा करते हैं। वे यथार्थवादी हैं। सम्पूर्ण वैज्ञानिक समाजवाद का यह दावा है। अन्य सब आन्दोलनों से अधिक खादी का आन्दोलन किसी पूर्वकल्पित धारणा पर आश्रित नहीं है, न वह प्राचीन वा आधुनिक, धार्मिक वा वैज्ञानिक कट्टरता पर ही आश्रित है। वह समस्त भारत के सात लाख गाँवों में प्राप्त तथा व्यक्त पदार्थवादी तथ्यों के अध्ययन पर आश्रित है।

समाजवाद दूसरी बातों के साथ उलट-फेर या क्रान्ति ('रेवोल्यूशन'*) में विश्वास रखता है। जो लोग चर्खा चलाते हैं वे देख सकते हैं कि वह निरन्तर उलट-फेर (रेवोल्यूशन) कर रहा है पर इसके अलावा वह दूसरी ज़्यादा तात्त्विक क्रान्ति भी करता है। असंस्कृत दिमाग़ वाले लोग भ्रमवश क्रान्ति को ऐसे जन-विद्रोह या सामूहिक उलट-फेर का समानार्थवाची समझते हैं जिसके साथ थोड़ी-बहुत हिंसा मिली हो परन्तु क्रान्ति का सार मूल्यों के पुनर्मूल्याङ्कन में है। इस दृष्टि से आधुनिक भारत के और किसी आन्दोलन ने प्रचलित मूल्यों के परिवर्तन या पुनर्मूल्याङ्कन में खादी से अधिक प्रभाव नहीं डाला है। यह प्रभाव केवल पोशाक वा वस्त्र-विन्यास में नहीं बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी व्यक्त हुआ है। इसने

*'रेवोल्यूशन' शब्द के दो अर्थ हैं (चर्खा का) फेरा यानी घुमाव और क्रान्ति—सम्पादक।

सम्मानित —भद्र—लोगों को अभद्र, अभद्र को भद्र बना दिया है; सुन्दर को असुन्दर और असुन्दर को सुन्दर कर दिया है। खादी के आगमन से शिष्टता, कला, आवश्यकता और स्वच्छता-सम्बन्धी सब धारणाएँ बदल गई हैं। चर्खा ने केवल समूहों की, जनता की, अर्थनीति को ही प्रभावित नहीं किया है बल्कि वर्गों की अर्थनीति पर भी असर डाला है। खादी का तात्पर्य एक विशिष्ट मनोवृत्ति, एक विशिष्ट तत्वज्ञान हो गया है। हम उस तत्वज्ञान से सहमत हों या असहमत, यह एक जुदा सवाल है पर यह पुरातन मूल्यों का अतिक्रमण कर नूतन मूल्यों की स्थापना करता और एक अद्भुत क्रान्ति पैदा कर रहा है जिसके महत्व की उपेक्षा केवल तुच्छ द्वेष-भाव ही कर सकता है। एक समाजवादी, वैज्ञानिक या यथार्थवादी मनोवृत्ति के लिए इस प्रकार उसके महत्व को कम करना या उसकी उपेक्षा करना कुछ शोभा नहीं देता।

—गांधी जयन्ती, १९३४]

: ३ :

खादी के बारे में भ्रान्तियाँ

जब ग्रामवासी के सामने चर्खा रखा जाता है तो उसके खिलाफ़ वह कोई तर्क उपस्थित नहीं करता; इसलिए नहीं कि वह तर्क करने में असमर्थ है बल्कि इसलिए कि प्रेरणा-वश वह अनुभव करता है कि चर्खे से उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी और उस सीमा तक वह उसके लिए आमदनी का एक साधन होगा। उसकी कठिनाई यह नहीं है कि अपने घर में या प्रत्येक ग्रामीण घर में, चरखे को स्थान देने की वाञ्छनीयता और उपयोगिता वह समझता नहीं, बल्कि यह है कि उसे उसका कोई अभ्यास

नहीं है। आजकल वह चलाया नहीं जाता ! उसकी सारी ज़िन्दगी रीति-रिवाजों से नियन्त्रित है। तब रिवाज को छोड़कर एक नया काम करना ! यह कैसे हो सकता है !

शिक्षित लोगों के साथ यह बात नहीं है। यदि एक आर्थिक निर्देश के रूप में, खादी की उपयोगिता के विषय में उन्हें प्रतीति करा दी जाय तो उन्हें फिर कोई एतराज़ नहीं हो सकता। ऐसा वे अनुभव करते हैं, यद्यपि उनकी ज़िन्दगी पर भी रीति-रिवाजों का शासन है, ग्रामीणों की अपेक्षा थोड़ी कम मात्रा में सही। बेचारा देहाती तो अपने रिवाज और संकुचित स्वार्थभावना का कोई तात्विक औचित्य या कारण नहीं बता सकता, पर शहराती, अपने ज्ञान-भंडार की सहायता से किंचित् प्रभाव के साथ, वैसा कर लेता है। आदर्शवादी या वैज्ञानिक समर्थन के बिना वह कोई काम ही नहीं करता। पर प्रायः ऐसा होता है कि वह जो विद्वत्तापूर्ण व्याख्याएँ उपस्थित करता है उनकी जब बारीक छान-बीन की जाती है तब उसके अधपच और ठीक तरह से न समझे हुए ज्ञान का पता चलता है—ऐसे ज्ञान का जिसे विद्वत्तापूर्ण अज्ञान कहा जा सकता है। यहाँ हम शिक्षित जनों द्वारा खादी के विरुद्ध उपस्थित किये जाने वाले कुछ आक्षेपों पर विचार करेंगे।

पहली आपत्ति यह है कि खादी कोई आर्थिक संगति नहीं है। यहाँ आक्षेप करनेवाले अर्थनीति को निजी या पारिवारिक बचत के अर्थ में लेकर भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। वे एक ही शब्द को भिन्न अर्थ में इस्तेमाल कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके तर्क में जो भ्रान्ति है उसे वे नहीं देख पाते। जब वे ऐसा कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह होता है कि एक गज़ खादी उसी ढंग के एक गज़ विदेशी या हिन्दुस्तानी मिल के कपड़े से महँगी है। परन्तु इस कथन से अर्थ-विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस बात के सत्य होने पर भी अर्थ-विज्ञान इसे राष्ट्र की श्रेष्ठ अर्थनीति के रूप में ग्रहण कर सकता है। तथ्य की बात यह है कि अर्थशास्त्र राष्ट्रों की दौलत का विज्ञान है। एक ज़माना था कि इसे राजकीय अर्थनीति ('पोलीटिकल एकोनोमी') नाम से पुकारा जाता था। अर्थशास्त्र के

प्रसिद्ध लेखक एडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र पर लिखी अपनी पुस्तक का नाम 'राष्ट्रों की दौलत' (The Wealth of Nations) रखा। कतिपय पुराने अर्थशास्त्रियों का विचार था कि शीघ्र ही अर्थविज्ञान का सार्वभौमिक रूप सामने आने वाला है, जिसमें भिन्न इकाइयों के रूप में राष्ट्रों के धन का कोई प्रश्न ही न रह जायगा बल्कि सम्पूर्ण विश्व के धन का सवाल रह जायगा; और आर्थिक कार्यों के क्षेत्र में, उत्पादन, खपत, वितरण और धन के परिवर्तन में सम्पूर्ण मानवता एक घर की एक इकाई की भाँति कार्य करेगी और विभिन्न राष्ट्र उसके उसी प्रकार अंग होंगे जैसे आज विभिन्न प्रदेश एक राष्ट्र के अंग हैं; राष्ट्रीय प्रतिबन्ध, चुंगी की विभाजक दीवारें, सस्ते माल से किसी देश के बाज़ार को भर देना इत्यादि बातें न रहेंगी और धन का प्रवाह एक देश से दूसरे देश में बिना किसी बाधा-बंध के बहेगा। यह सुन्दर स्वप्न सिद्ध नहीं हुआ। आज तो वह पहले से कहीं दूर पड़ गया है। अब अर्थ-विज्ञान केवल वर्तमान में पाये जाने वाले भौतिक तथ्यों से सम्बन्ध रखता है, भविष्य में किसी वास्तविक या कल्पना के स्वर्ग-संसार में उनका क्या रूप होगा या हो सकता है, इससे उसे मतलब नहीं।

आज भारतीय राष्ट्र जिस स्थिति में है, उसकी दृष्टि से आइए, हम खादी की परीक्षा करें। क्या खादी के उत्पादन से राष्ट्र के धन में वृद्धि होती है? निस्सन्देह, वह कुछ धन तो पैदा करती ही है। क्या ऐसा वह उस समय और शक्ति के द्वारा करती है जिससे धन की अधिक बड़ी इकाइयाँ—मतलब ज्यादा धन—पैदा की जा सकती हैं? खादी का सम्पूर्ण तर्क किसानों के फुर्सत के वक्त के उपयोग के अकाट्य तथ्य पर निर्भर है, जिसका कम से कम अन्दाज़ साल में तीन महीने का है। आर्थिक भाषा में बाध्य छुट्टी का नाम ही बेकारी है। इसलिए जब खादी का उत्पादन किया जाता है तब उसका यही अर्थ होता है कि अतिरिक्त राष्ट्रीय धन पैदा करने में इस छुट्टी या फुर्सत का सदुपयोग किया जा रहा है। चाहे कितनी ही छोटी मात्रा में हो, यह राष्ट्रीय बेकारी को कम करती है।

किसी राष्ट्र के जीवन से बेकारी का निराकरण करना अर्थशास्त्र की एक समीचीन स्थापना है।

इससे उत्पादन में वृद्धि होती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि जब तक आबादी की प्रति इकाई पर उत्पादन का औसत न बढ़े तब तक भारत में लोगों की जीवन-विधि ऊँची न हो सकेगी। खादी इस उत्पादन में वृद्धि करती है। और ऐसा वह धनोत्पादन के दूसरे श्रेष्ठ साधनों को हानि पहुँचाकर नहीं करती। इसने भारतीय मिलों को बन्द नहीं किया है; वह इसका उद्देश्य नहीं है। आज की बचत के आधार पर भी हिसाब लगायें तो राष्ट्र की कपड़े की आवश्यकता पूरी करने के लिए अभी आगामी अनेक वर्षों तक वर्तमान सब मिलों बल्कि बहुतेरी और मिलों, तथा आज बनने वाली सब खादी, बल्कि उससे कहीं ज़्यादा खादी की ज़रूरत होगी।

खादी से राष्ट्र की क्रयशक्ति भी बढ़ती है। राष्ट्रीय धन का अन्दाज़ लगाने में क्रयशक्ति एक स्वीकृत माप है। जब ग्रामवासी चर्खा चलाता है तब वह कपड़े पर उससे कहीं कम खर्च करता है जितना चर्खा न चलाने की अवस्था में करता है। इसका मतलब यह हुआ कि उसके पास फालतू कुछ धन बच जाता है जिसका वह अपनी जीवन-विधि को ज़्यादा अच्छी बनाने में सदुपयोग कर सकता है। धनी जब खादी खरीदता है तब उसे ज़्यादा खर्च करना पड़ता है पर उनके जीवन-मान को तो ऊँचा उठाने की आवश्यकता है नहीं। वैसे सच्ची बात तो यह है कि धनियों ने भी, खादी अपना कर, कुछ न कुछ बचाया ही है। इस स्थान पर इस बहस में जाने की आवश्यकता नहीं कि वह बचत कैसे हुई।

जिस सीमा तक खादी विदेशी वस्त्र को हटाती है उस सीमा तक वह देश का धन बाहर जाने से रोकती है। इसका भी यही तात्पर्य है कि राष्ट्रीय धन का महत्तर भाण्डार हमें प्राप्त है जिससे व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं और भावी उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। इसलिए जब खादी खरीदार की जेब से कुछ लेती हुई प्रतीत होती है तब भी वह उसके वैभव में वृद्धि ही करती है। एक तरफ से वह जो खोता है, दूसरे रूप में उससे कहीं ज़्यादा प्राप्त कर लेता है।

इसलिए, (१) बेकारी घटाने, (२) राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने, (३) गरीबों की क्रयशक्ति, और (४) राष्ट्र के सामूहिक धन की दृष्टि से, अर्थशास्त्र में, चर्खा और खादी की समीचीन स्थापना है।

—गांधी जयन्ती, १६३४]

: ४ :

खादी और निर्वाहयोग्य मजूरी

यह भी आक्षेप किया जाता है कि खादी मजूर को जीवन-निर्वाहयोग्य मजूरी नहीं प्रदान करती। पर निर्वाहयोग्य आर्थिक मजूरी (livinge economic wage) है क्या चीज़ ? इसकी कोई निश्चित धारणा नहीं है। असल बात तो यह है कि एक ऐसे देश में, जहाँ विस्तृत और जीर्ण बेकारी है, आम तौर से मजूरी करने वाली जनता के लिए निर्वाहयोग्य आर्थिक मजूरी मिल ही नहीं सकती। यहाँ तो प्रथागत मजूरी ही चल सकती है जो लम्बी अवधियों के बाद बदलती है। कुछ सुदृढ़ और सुगठित व्यापारों एवं उद्योग-धन्धों में यह प्रथागत मजूरी निर्वाहयोग्य मजूरी की सीमा तक पहुँच सकती है परन्तु शायद रूस को छोड़कर अन्य किसी आधुनिक देश में आज सामान्य रूप से मजूर के लिए जीवन-निर्वाहयोग्य मजूरी का अस्तित्व नहीं है। रूस में जो मजूरी मिलती है उसे भी दूसरे देशों में 'आर्थिक' नहीं समझा जायगा। रूस केवल एक आदर्श के अनुसरण में लगा होने के कारण उसे आज बर्दाश्त करता है। कुछ व्यवसायों तथा उद्योगों में जो कथित निर्वाहयोग मजूरी मिलती है, वस्तुतः बेकारों के विनाश पर आश्रित होती है।

परन्तु आलोचकर्ता पूछ सकता है कि खादी जिन मजूरों से काम लेती है क्या उन्हें प्रचलित मजूरी भी दे पाती है? यहाँ कुछ आँकड़े दिये जाते हैं। बुनकर—जुलाहा—१३ से १५ रुपये मासिक तक पाता है; धोबी को १२ से १५ तक पड़ते हैं; बढ़ई २५ से ३० तक कमाता है और छपाई करने वाले को भी २५ से ३० तक मासिक पड़ते हैं (ये आँकड़े गाँधी आश्रम, मेरठ के अनुसार हैं)* जो लोग जानकारी रखते हैं वे स्वीकार करेंगे कि ऊपर बताये गये कुशल मजूरों का यही प्रचलित वेतन-क्रम है। कताई एक आंशिक और फुर्सत का धन्धा है। तब भी यदि एक कतवैया आठ घंटे काम करे तो वह ६ से ८ पैसे प्रतिदिन कमा सकता है। वस्तुतः ज्यादातर प्रान्तों में गाँवों में अकुशल मजूरों की प्रचलित मजूरी दो आना दैनिक है। कुछ प्रान्तों में अधिक मजूरी भी दी जाती है पर सर्वत्र श्रम की शर्तें कठोर हैं और उसकी आवश्यकता स्थायी रूप से नहीं बल्कि कुछ विशिष्ट अवधियों—कुछ ऋतुओं—में ही पड़ती है। गुजरात के कुछ भागों, सिन्ध और पंजाब को छोड़कर शेष देश में दो आना प्रतिदिन की स्थायी आय ग्रामीण मजूर को सन्तोष देगी। इसलिए मजूरी के विषय में जो आपत्ति की जाती है वह ग्रामीण भारत-विषयक तथ्यों की जानकारी से दूर हो जायगी।

पर शहर के लिए क्या कहते हो? चाहे नगर हो या गाँव, किसी ने कभी यह सलाह नहीं दी कि जो लोग अच्छी आमदनी के काम में लगे हैं वे अपना काम छोड़कर चर्खा ग्रहण कर लें। चर्खा का सम्पूर्ण अर्थशास्त्र इस तथ्य पर आश्रित है कि यह खेतिहर के लिए सब से उपयुक्त सहायक धन्धा है। कोई अधिक आमदनी वाले धन्धों को छोड़कर चर्खा अपनाने को नहीं कहता। गाँव में चर्खा एक सहायक धन्धा होने के अलावा अकुशल मजूर को लगभग प्रचलित मजूरी भी प्रदान करता है तो इससे उसका श्रेय और बढ़ता ही है।

---

*ये आँकड़े १९३४ के, युद्ध के बहुत पहले के, हैं।—संपादक।

नोट—इसके लिखे जाने के बाद गाँधी जी ने अपनी नई योजना चलाई है जिसके अनुसार चर्खे पर आठ घंटे काम करने वाले कतवैये को तीन आने मिलते हैं। पर कौन कह सकता है कि यह जीवन निर्वाह-योग्य आर्थिक मजूरी है ? इसके बारे में तो इतना ही कहा जा सकता है कि इससे व्यक्ति को अल्पतम मात्रा में भोजन-वस्त्र मिल जाता है। यदि आर्थिक निर्वाहयोग्य मजूरी का यही अभिप्राय है तो १९३५ में नई योजना जारी करने के बाद से उसका प्रारंभ हो गया है।

—गांधी जयन्ती, १९३४]

: ५ :

स्वदेशी और घरेलू उद्योग

बड़े पैमाने पर होने वाले कारखानों के उत्पादन के कारण हर जगह आदमी मशीन का गुलाम बन गया है। निरन्तर छँटते जाने और संख्या में कम होते जाने वाले एक दल के हाथ में धन का केन्द्रीकरण करके इसने प्रतिस्पर्द्धी, परस्पर युद्ध-निरत, वर्गों की सृष्टि की है। इसके कारण समाज का आधार निरन्तर अस्थिर और अव्यवस्थित हो रहा है तथा क्रान्तियाँ एवं प्रतिक्रान्तियाँ होती रहती हैं। कारखानों से पैदा होने वाली सामाजिक और नैतिक बुराइयाँ लोगों को भली-भाँति मालूम हैं इसलिए उनकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि शक्ति इन मशीनों के मालिकों के हाथ में होने के बजाय सार्वजनिक हित के लिए काम करने वाले भले और विवेकशील लोगों के हाथ में हो तो इन सब बातों को नियंत्रण में रखा

जा सकता है। यह बिल्कुल संभव है कि जनता की अथवा जनता के लिए काम करनेवाली एक विवेकशील सरकार धन के उत्पादन की ऐसी व्यवस्था करे जिससे विषमताएँ दूर हो जायँ; और इन विषमताओं के दूर होने पर, मशीन के ज़रिये बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन से सम्बन्धित सामाजिक और नैतिक बुराइयाँ समाप्त हो जायँ। जहाँ उत्पादन और वितरण निजी लाभ के लिए न होकर जनता के हित और कल्याण के लिए हो वहाँ तो मानवता विज्ञान की बुराइयों से बचकर उसके सम्पूर्ण लाभों का उपयोग कर सकती है। वह मशीन को अपना मालिक नहीं, सेवक बना सकती है। किन्तु जब तक ऐसे विवेकपूर्ण शासन का जन्म या स्थापना न हो तब तक यह आशा करना कि आज मानवता जिन वर्तमान बुराइयों से पीड़ित है वे उल्लेखनीय रूप में दूर की जा सकती हैं, व्यर्थ है।

अनुभव ने बता दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने जो विषमताएँ पैदा करदी हैं उन्हें सामाजिक और कारखानेदारी के कड़े से कड़े कानूनों द्वारा भी दूर कर सकना संभव नहीं है। ये विषमताएँ बनी रहती हैं और सर्वहारा और सर्वभोगी वर्गों के बीच ईर्ष्या, असन्तोष, घृणा, झगड़े और लड़ाई पैदा करती रहती हैं। अगर विज्ञान मानवता के कल्याण और प्रगति के लिए आर्थिक जीवन को नियंत्रित करना चाहता है तो उसे न केवल उत्पादन, बल्कि, खपत, वितरण और धन के विनिमय को भी नियंत्रित करना पड़ेगा। आज के पूँजीवादी समाज में तो विज्ञान का यही काम रह गया है कि वह केवल उत्पादन में वृद्धि करता जाय—और यह वृद्धि भी न केवल उपयोगी चीज़ों के उत्पादन में, बल्कि निरर्थक, बल्कि हानिकर चीज़ों के उत्पादन में। विज्ञान मशीन और उसके संचालन-कौशल का निर्माण करके वहीं रुक गया है। इन मशीनों पर दिन-दिन संख्या में कम होते जाने वाले दल ने भले-बुरे सब तरह से, और ज़्यादातर अनुचित तरीकों से, कब्ज़ा जमा लिया है। अगर मानवता को विज्ञान का लाभ उठाना है तो उसे विज्ञान-द्वारा समाज के लिए आवश्यक मात्रा में ही

उपयोगी वस्तुओं के निर्माण की व्यवस्था करनी होगी और जो चीज़ें वर्तमान पीढ़ी या भावी पीढ़ियों के लिए निरर्थक और हानिकर हैं, उन्हें दूर कर देना होगा। विज्ञान की सहायता से जो भी धन पैदा हुआ है उसके वितरण, विनिमय और खपत पर विज्ञान की पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना होगा। आज यदि भौतिक विज्ञान ने प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करना सम्भव कर दिया है तो समाज-सम्बन्धी विज्ञानों ने भी एक वैज्ञानिक दृष्टि से नियोजित अर्थनीति का प्रचलन बिल्कुल संभव बना दिया है। इसलिए विज्ञान के भक्त यदि एक विभाग (कारखाने) में उसके उपयोग की वकालत करते हैं तो अपने विश्वास की सच्चाई की खातिर उन्हें और आगे बढ़ना होगा और सम्पूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को विज्ञान के नियंत्रण में लाना होगा। आज विज्ञान के आंशिक उपयोग के ही कारण मानवता के आर्थिक जीवन में, और फलतः सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में भी, पूर्ण भ्रान्ति तथा गोलमाल पैदा हो गया है।

मशीन और कारखाने के आगमन के पहले, अपने घरेलू उद्योगों के साथ, एक कृषक सभ्यता का आर्थिक जीवन उससे कहीं ज़्यादा उचित रीति से नियंत्रित था जितना और जिस रूप में आज वह पूँजीवादी व्यवस्था में नियंत्रित है। तब यह सवाल उठता है कि जो देश थोड़ा या बहुत पुरानी अर्थनीति से आज भी शासित हैं उनमें ज़्यादा गड़बड़ी—भ्रान्ति—पैदा करना क्या वाञ्छनीय है? पुरानी व्यवस्था प्रथा से नियंत्रित है और अत्यधिक दुरुपयोग से उसकी रक्षा करने के लिए ऐसी नैतिक और सामाजिक मर्यादाएँ बनी हुई हैं जिन्हें अमान्य करना परम शक्तिमानों के लिए भी कठिन होता है।

इसलिए यदि हम मशीन और मशीन युग के पक्ष या विपक्ष में दिये जाने वाले पूर्व-कल्पित सिद्धान्तों को अलग छोड़ दें तो भी एक व्यावहारिक सुधारक के मन में गंभीरतापूर्वक यह प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता कि आज जो अव्यवस्थित आर्थिक जीवन वर्तमान है उससे अधिक अव्यवस्थित जीवन का श्रीगणेश करना क्या उसके लिए उचित होगा? उस

अव्यवस्थित जीवन का जो अपने साथ विषमताएँ, गन्दगी, मलिनता, शारीरिक और नैतिक रोग, ईर्ष्या, घृणा और वर्ग-युद्ध लायेगा; और तब इन सबको पैदा करके व तराजू के पलड़ों को समान करने के लिए एक खूनी रक्तवर्णी क्रान्ति की प्रतीक्षा में बैठना कहाँ तक उचित होगा? इससे ज़्यादा अच्छा क्या यह न होगा कि जब तक ज़्यादा व्यवस्थित, वैज्ञानिक और संयोजित अर्थनीति संभव नहीं बनती तब तक हम वर्तमान व्यवस्था में, जो बुरी तो है ही, रहकर संघर्ष करें और इस बीच पुरानी व्यवस्था को उत्तमतर और अधिक सेवोपयोगी बनाने की दृष्टि से उसमें अधिक जीवन और शक्ति डालने के लिए समस्त संयोगों एवं सुविधाओं का उपयोग कर लें? सुधारक के लिए इस प्रकार के विचार रखना बिल्कुल सम्भव है। घरेलू और ग्रामीण उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवन देने के प्रयत्न के मूल में, अन्य बातों के साथ, यही बात है। जो लोग विज्ञान और यंत्रीकरण की वकालत करते हैं इसे प्रदर्शित करना उनका काम है कि आर्थिक और सामाजिक जीवन के सभी अंगों को विज्ञान-द्वारा नियंत्रित करने के लिए उनके पास न केवल आवश्यक योग्यता और संकल्प बल्कि शक्ति भी है।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है हमारे पास वह छोटी सी शक्ति भी नहीं है जो पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक और सामाजिक कानूनों के रूप में अन्य स्वतंत्र देशों को प्राप्त है इसलिए हम अपनी जनता की अत्यन्त निर्दय शोषण से रक्षा करने में असमर्थ हैं। अहमदाबाद का मजूरसंघ, जो अनुदार और निश्चित रूप से एक अक्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन है और गांधी जी की समझौते की नीति के अनुसार चलाया जाता है, श्रमिकों के अति सामान्य और उचित अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ है। क्रूर और अदूरदर्शितापूर्ण स्वार्थ-नीति से संचालित होकर वहाँ के मिल-एजेंटों ने इन वर्षों में बराबर श्रमिकों के वेतन में गहरी कटौती करने का प्रयत्न किया है और वह भी उस हालत में जब अहमदाबाद की मिलें खूब मुनाफा उठा रही हैं और मिलों की तादाद हर साल बढ़ती जाती है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि यह वेतन की कटौती उस संरक्षण और सहायता के बावजूद की जा रही है जो हिंदुस्तानी मिलों को स्वदेशी आन्दोलन के कारण प्राप्त है और जिसके असर में हिंदुस्तानी ग्राहक देशी मिलों के कपड़े के लिए लंकाशायर या जापान के उसी कोटि के कपड़े के दाम से ज्यादा दाम बिना हिचकिचाहट के दे देते हैं; यह कटौती इस बात के भी बावजूद है कि इस उद्योग के लिए जब कभी और जो कोई संरक्षण सरकार से माँगा गया उसका सदा जनता ने समर्थन किया; फिर यह कटौती इस बात के बावजूद भी है कि मिलों ने खुद अपनी व्यवस्था में सुधार करने से सदा इन्कार किया और एजेंटों ने अपने मोटे तथा अनुचित वेतन और चार्ज में कमी करने की रज़ामंदी कभी जाहिर न की। सार्वजनिक कार्यकर्ता बिना किसी वेतन के मिलों के एजेंट और प्रचारक के रूप में काम करते हैं। उन्होंने उनका विज्ञापन किया है और जनता का काफ़ी पैसा खर्च करके उनके लाभ के लिए प्रदर्शिनियों की योजना की है। इन सब का लाभ कुछ पूंजीपति चुपचाप निगल जाते रहे हैं। उन्होंने कांग्रेस को दिये गये वचनों और प्रतिज्ञापत्रों का भंग किया है। जब से स्वदेशी और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार की भावना का राष्ट्र पर आधिपत्य हुआ तब से मिलमालिक बराबर नीच, देशद्रोहपूर्ण और आत्म-घातक खेल खेलते रहे हैं। बंग-भंग आन्दोलन के दिनों में उन्होंने दाम इतना चढ़ाया कि उस समय के स्वदेशी आन्दोलन को करीब-करीब बरबाद करके छोड़ा। १६२१ से उन्होंने कम नम्बर के सूत के मोटे कपड़े के उत्पादन में वृद्धि करनी आरंभ की क्योंकि वह उस आन्दोलन की सीधी होड़ में आता था जिससे उनको समर्थन प्राप्त हुआ था—अर्थात् खादी आन्दोलन; क्योंकि वे सब लोग, जो खादी नहीं ग्रहण कर पाते थे स्वदेशी की आड़ लेकर देशी मिलों के कपड़े ही ग्रहण करते थे। कुछ मिलें और आगे बढ़ीं और उन्होंने अपने कम नम्बर के मोटे कपड़े को खादी का नाम दे दिया। १६३२ ई० से तो राष्ट्रीय यज्ञ के प्रति खुला विश्वासघात हुआ है। कांग्रेस के साथ अच्छे दिनों में किये राज़ीनामों या

समझौतों को मिलवालों ने किस अकड़ और उद्धतता के साथ ठुकराया, इसे सार्वजनिक कार्यकर्ता जानते हैं। अन्य अनेक रीतियों से उन्होंने यह प्रकट कर दिया कि वे राष्ट्रीय धर्म पर संकुचित, अदूरदर्शितापूर्ण स्वार्थ-परायणता—खुदग़र्ज़ी—को अधिक पसन्द करते हैं। उनके पास समझने के लिए दिमाग़, और देखने के लिए आँखें होतीं तो वे सहज ही जान सकते थे कि यही राष्ट्रीय आन्दोलन, अन्त में, उनका सर्वोत्तम संरक्षण सिद्ध होगा। उनके प्रतिनिधि ने केन्द्रीय धारा सभा में न केवल दमन का समर्थन किया बल्कि काँग्रेस को कुचल देने की भी माँग उपस्थित की। ओटावा समझौते में मदद देकर और लंकाशायर तथा जापान से पैक्ट करके उन्होंने भली-भाँति प्रकट कर दिया कि वे खुद अपने हितों के रक्षक होने के भी अयोग्य हैं—राष्ट्रीय हितों की रक्षा तो क्या करेंगे? मैंने वस्त्र-व्यवसाय को केवल उदाहरण के रूप में लिया है। चीनी तथा दूसरे उद्योगों का भी यही हाल है; वहाँ भी अपरिमित लोभ के लिए जन-हित की उपेक्षा की यही दुःखपूर्ण कहानी है।

जब हमारी विवशता इस सीमा तक बढ़ी हुई है कि हम समझौते की शर्तों का भी पालन नहीं करा सकते, जब हम मजूरों की रक्षा नहीं कर सकते, जब हम खपत करने वालों की मदद नहीं कर सकते, और जब हम अपने बोये हुए को काट भी नहीं सकते तब बड़े पैमाने पर मशीन-द्वारा उत्पादन को सहायता तथा उत्तेजन देने की बात करना महज़ फ़िज़ूल है। हमने अपनी पूरी ईमानदारी और देश-प्रेम के साथ इसके लिए प्रयत्न कर देखा है। हमने विदेशी प्रतिद्वंद्विता—होड़—से बड़े उद्योगों की रक्षा की है, हमने विदेशी सरकार से उनकी रक्षा का यत्न किया है, हमने क्रान्ति-कारी समाजवाद से उनको बचाने की कोशिश की है; फिर भी हमें बदले में घोर कृतघ्नता और विश्वासघात के सिवा और कुछ नहीं मिला। अगर उद्योग-धन्धों ने यह बर्ताव किया है तो व्यापार ने भी उससे कुछ अच्छा व्यवहार नहीं किया है। आढ़तियों और फुटकर बिक्री करने वाले व्यापारियों ने अक्सर विदेशी चीज़ों को शुद्ध स्वदेशी के नाम पर बेचा है।

इन सब बातों के होते हुए भी जो लोग विज्ञान और आधुनिकता के नाम पर हमसे मशीन की बनी हुई चीज़ों के प्रचार एवं संरक्षण की माँग करते हैं, निश्चय ही हमसे राजनीतिक और आर्थिक आत्मघात करने के लिए कहते हैं। इन मित्रों के लिए ज़्यादा उचित और फलदायक यह होगा कि वे पहले शक्ति और सत्ता हस्तगत करें और ऐसे अधिकारों से सज्जित हों जिनके द्वारा जन-समूह की, कृषक की, मजूर की और उपयोक्ता—चीज़ों की खपत करने वाले—की रक्षा हो सके। हमारी जनता, हमारे अधभूखे देश-बन्धुओं की दृष्टि में जो कुछ राष्ट्रीय हित है उसके मार्ग में आने वालों, बाधा डालने वालों को दण्ड देने, और ज़रूरत पड़े तो उन्हें एक दम से हटा देने की शक्ति पहले वे विकसित करें। पहले उन्हें यह शक्ति प्राप्त करने दो, और तब मशीनों से उत्पादन की बात करने दो, नहीं तो यही कहना पड़ेगा कि वे विज्ञान के नाम पर उससे कहीं ज़्यादा बड़े और खतरनाक कल्पनावादी तथा कट्टर धर्मान्ध हैं जितना गाँधी अपनी अनेक सनकों के साथ है। कम से कम वह पूँजीवादियों के हित से अलग जन-समूहों का हित देखता है। उसने उनका सहयोग माँगा पर वे क्यों सहयोग देने या उसका सहयोग लेने लगे? लोभ और खुदगर्ज़ी से अन्धे होकर उन्होंने, एक सामान्य कर्तव्य में उसके भ्रातृत्व के बढ़े हुए हाथ को पकड़ने से इन्कार किया। जिस सीढ़ी के द्वारा वे अपनी वर्तमान ऊँचाई तक पहुँचे उसी को उन्होंने ठुकरा दिया। मुझे कुछ सम्मान्य अपवादों का पता है पर वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। मैं यह भी मानने को तैयार हूँ कि अभावपूर्ण अधिकार और शक्ति के अभाव में किसी भी देश में यही बात होती। पर इससे यही सिद्ध होता है कि मध्य तथा दीन वर्गों के लिए अपने ही शोषण तथा गुलामी में मदद करना निरर्थक है। जो गरीब हैं उनके लिए धनियों का धन बढ़ाने का प्रयत्न करना फिज़ूल है। कार (मोटरगाड़ी) पर कार और बँगले पर बँगले बढ़ाना व्यर्थ है। यह कहने का मौका मत दो कि जिनके पास बहुत है उन्हीं को और बहुत जुड़ रहा है, और जिनके पास थोड़ा है उनसे वह थोड़ा भी छिना जा रहा है। आइए, हम धनिक पूँजीपति के

खेल के मुहरे बने बिना स्वदेशी को ग्रहण करें—स्वदेशी को, जो राष्ट्र का जीवन-रक्त है।

इसलिए जनता का हित चाहनेवाले सब प्रकार के, विचारवान और जागरूक देशभक्तों को घरेलू उद्योगों के भले और सच्चे कार्य में तब तक मदद करनी चाहिए जब तक कि आर्थिक सत्ता अपने हाथ में न आ जाय और आर्थिक सम्पत्ति का सम्पूर्ण उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा खपत केवल एक वैध तथा नैतिक तात्पर्य से, अर्थात् सर्वाधिक संख्या के सर्वाधिक हित की दृष्टि से, नियंत्रित न हो।

—एप्रिल, १६३५]

: ६ :

रचनात्मक कार्यक्रम और क्रान्ति

"चर्खा, ग्रामोद्योग और सामान्यतः काँग्रेस का रचनात्मक कार्यक्रम जनता की अवस्था में आंशिक सुधार करते हैं। जन-समूहों की गरीबी, बेइज्जती और गुलामी का असली हल तो क्रान्ति से ही निकल सकता है। जनता की स्थिति सुधारने के लिए जो भी आंशिक या अधूरे साधन काम में लाये जाते हैं, वे केवल एक नशे का काम करते हैं और उनकी आँखों से असली समस्या यानी क्रान्ति की समस्या ओझल कर उन्हें खुमारी में डाल देते हैं। सुधार के कारण वे थोड़े-बहुत सन्तुष्ट हो जाते हैं; इससे असन्तोष की धार कुन्द पड़ जाती है। इसके कारण वे अपने बन्धन के प्रति शान्त हो जाते हैं। इसके कारण व तात्विक वर्ग-विरोध की भावना को, और वस्तुओं की प्रकृति में ही वर्ग-हित का जो

मौलिक संघर्ष है उसको भूल जाते हैं। भूतकाल में जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं वे तभी संभव हो सकीं जब स्थिति बहुत बुरी हो गई, बिल्कुल असह्य हो उठी। अन्याय जितना ही ज़्यादा बढ़ा, प्रतिशोध और परिणामतः पुनर्व्यवस्था भी उतनी ही व्यापक हुई। इसलिए मानवता के पैमाने से नीचे गिरे हुए किसी वर्ग की स्थिति अच्छी करने की दृष्टि से सुधार का कोई प्रयत्न नहीं होना चाहिए। यदि इस प्रकार के चेतन, इच्छाकृत और वैज्ञानिक व्यवहार से गरीबी और बेइज्ज़ती में वृद्धि होती है, यहाँ तक कि उससे यदि हज़ारों मौत के घाट उतर जाते हैं तब भी उसे दार्शनिक एवं वैज्ञानिक धीरता के साथ सहन करना चाहिए और यह मानना चाहिए कि वस्तुओं की निर्दय और कठोर प्रकृति को उसका मूल्य चुकाना ही पड़ता है। इस प्रकार का कष्ट-सहन सर्जन—नश्तर देने वाले डाक्टर—के चाकू की भाँति या नवीन जीवन की प्रसव-वेदना की भाँति है। जब मानवता अपमान और दुःख के अन्तिम प्यालों को गले के नीचे उतार देती है तभी उसमें विस्फोट होता है और तभी वह अपने बन्धन तोड़ सकती है।" साम्यवादियों और समाजवादियों की एक श्रेणी इस प्रकार के तर्क करती है।

यह बिल्कुल संभव है कि समाज-संघटना में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायँ कि क्रान्ति के बिना, स्थितियों एवं मूल्यों के परिपूर्ण पुनर्गठन के बिना विनाश से समाज की रक्षा न हो सके। स्थिति मौलिक रूप में इतनी भ्रष्ट हो जा सकती है कि जोड़-तोड़ और पैवन्द लगाने से समस्या न हल हो या उसका कोई स्थायी लाभ न हो। हालत ऐसी हो सकती है कि मानों एवं मूल्यों को एक दम से उलट देने की आवश्यकता पड़े। पुरानी व्यवस्था बुरी तरह युग की भावना के प्रतिकूल हो सकती है; हो सकता है कि दिन-दिन उसमें इतनी हीनता, पतन और सड़ाँध उत्पन्न होती जा रही हो कि चिकना, सरल, विवेकपूर्ण और विकासमान कार्यक्रम बाधाएँ दूर करने में असमर्थ हो, सुधार पिछड़ जाय और प्रतिदिन समाज अपने को नीचे ले जाने वाले मार्ग पर खिसकता हुआ पावे। ऐसे ही अवसरों पर सर्जन का वह चाकू, जिसे समाज में क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है, आवश्यक हो सकता है।

इन सब बातों को मानते हुए भी यह सन्देह रह ही जाता है कि क्या जब प्रतिकूल परिस्थितियाँ अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती हैं,—उस सीमा पर जिसके आगे जाना संभव नहीं, तभी क्रान्तियों का जन्म होता है? क्रान्तियों का इतिहास तो यही बताता है कि यह शर्त्त अनिवार्य नहीं है। कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें बाह्य परिस्थितियाँ क्रान्ति के लिए अनुकूल थीं फिर भी किसी न किसी वस्तु के अभाव के कारण क्रान्ति का जन्म नहीं हुआ। इसके विरुद्ध दूसरे ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ क्रान्ति ने स्थिति के बिल्कुल खराब होने की प्रतीक्षा नहीं की और कुछ उत्साही व्यक्ति या आत्मसम्मानी वर्ग आगे बढ़कर उसे खींच लाया। इनके अलावा ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ परिस्थितियाँ सुधर रही थीं और क्रान्ति अंशतः इन्हीं सुधारों के फल-स्वरूप आई। पुरानी दुनिया में गुलामों का जैसा जीवन था उससे बुरी बाह्य परिस्थिति और क्या हो सकती है। उनका वर्ग बहुसंख्यक वर्ग था; उनकी तादाद उनके मालिकों से कई गुनी थी। फिर भी कोई क्रान्ति नहीं हुई। आधुनिक समय में देखें तो अमेरिका में हबशियों की मुक्ति किसी हबशी आन्दोलन या प्रयत्न के फल-स्वरूप नहीं मिली, यद्यपि मनुष्य की आत्मा और शरीर के लिए उनकी स्थिति से बुरी स्थिति की कल्पना करना संभव नहीं। प्राचीन रोम में प्लेबियन (अकुलीन, निम्न वर्ग) के लोगों की अवस्था उतनी बुरी न थी जितनी गुलामों की थी, फिर भी उन्होंने राज्य में क्रान्ति खड़ी कर दी। आज यूरोप में श्रमिक अथवा सर्वहारा जनता की जो स्थिति है उससे कहीं बुरी हालत मध्यकालिक युरोप में जनता की थी फिर भी वे छोटे-मोटे चन्द किसान विद्रोह—जो दबा दिये गये—से ज्यादा कुछ पैदा न कर सकी। आधुनिक राज्यों में राजाओं और ज़मींदारों के विरुद्ध जो मध्यवर्गीय (बूर्जो) क्रान्ति हुई उसका प्रवर्त्तन उन लोगों के द्वारा नहीं हुआ जिनकी आर्थिक अवस्था बुरी थी बल्कि उन लोगों के द्वारा हुआ जो सुखपूर्ण स्थिति में थे, और ऐसे समय हुआ जब उनकी स्थिति सुधरती तथा सुखपूर्ण होती जा रही थी और वैभव के

साथ उनकी स्वतंत्रता का क्षेत्र भी विस्तृत होता जा रहा था। इसी प्रकार अमेरिकन क्रान्ति भी गरीबी का राक्षस दूर करने के लिए नहीं की गई बल्कि अपने अधिकारों को सिद्ध और घोषित करने के लिए की गई क्योंकि उन लोगों का ख़याल था कि अपने राजनीतिक और आर्थिक भाग्य पर प्रभुत्व उनके अपने प्राकृतिक अधिकारों में से एक है। हमारे समाजवादी मित्रों की एक श्रेणी-द्वारा क्रान्ति का जो निर्देश किया जाता है उसकी दृष्टि से शायद फ्रांस की क्रान्ति उपयुक्त समझी जा सकती है पर ध्यान देने से ज्ञान पड़ता है कि इस उदाहरण से भी उन्हें विशेष सहायता नहीं मिल सकती। तथ्य की बात यह है कि जिस समय क्रान्ति हुई उस समय कृषक तथा निम्न मध्यवर्ग की स्थिति सुधर रही थी। यह क्रान्ति असह्य कष्टों का परिणाम उस सीमा तक न थी जिस सीमा तक इस बात का प्रमाण थी कि लोग पहले शान्ति और धीरज के साथ जो कुछ सहते आ रहे थे, अब सहने को तैयार न थे। जिसे लोग स्वाधीनता और समता आदि के विषय में अपना प्राकृतिक अधिकार समझते थे उनमें और जिन बाह्य भौतिक परिस्थितियों में वे रह रहे थे उनमें काफ़ी अन्तर था। ये अमूर्त धारणाएँ, जो न भलीभाँति शुद्ध थीं न तर्कपूर्ण, ऐसे तत्ववेत्ताओं-द्वारा प्रचरित की जा रही थीं जिनमें से कुछ का अपने युग की व्यावहारिक घटनाओं से बहुत ही कम सम्बन्ध था। फिर यह फ्रांसीसी क्रान्ति क्या है? इतिहासकार इसे 'एक अपूर्व घटना' कहने में हिचकिचाये नहीं हैं। केवल आधुनिक रूसी क्रान्ति ही एक ऐसी क्रान्ति है जिसके कारणों में जन-समूहों की आर्थिक स्थिति भी एक कारण थी—और निश्चय ही यह आर्थिक स्थिति उतनी बुरी थी जितनी कल्पना की जा सकती है। लेकिन यह स्थिति युद्ध की थकावट तथा विनाश एवं शासन-सत्ता के नष्ट हो जाने के कारण उत्पन्न हुई थी, अन्यथा युद्ध के पहले 'सर्फ़' लोगों की मुक्ति के कारण कृषक जनता की स्थिति निश्चय ही उस समय से अच्छी थी जब रूसी किसान केवल 'सर्फ़'—गुलाम—था और देश में औद्योगिक जीवन का अभाव था। फिर मध्य यूरोप के लगभग सभी देशों की सामान्य

आर्थिक स्थिति उस समय एक-सी थी। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी सब की आर्थिक स्थिति यदि ज्यादा बुरी न थी तो रूस की भाँति ही खराब थी, फिर भी उनकी विपदाओं से किसी क्रान्ति का जन्म न हुआ। आज भी मध्ययुरोप के देशों की वही निराशाजनक आर्थिक दुरवस्था है, फिर भी कोई क्रान्ति आती दिखाई नहीं पड़ रही है। आधुनिक रूसी क्रान्ति का एक विवेचक विद्यार्थी उस क्रान्ति की सफलता में अवसर—नागहानी, 'चांस'—द्वारा किये गये महान अभिनय को नहीं भूल सकता। खतरे के अनेक अवसर ऐसे आये कि जरा-सी गलती हो जाती तो सारी क्रान्ति विफल हो जाती। कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ कि उसके नियोजकों की योजना में कुछ भूलें हो गईं जिनके कारण सफलता संभव हो सकी।

मैंने यहाँ पश्चिम की क्रान्तियों के ही उदाहरण दिये हैं, क्योंकि आधुनिक मस्तिष्क की धारणा-सी बन गई है कि केवल पाश्चात्य इतिहास से ही ऐतिहासिक विकास के क्रम पर प्रकाश पड़ता है। एशिया का इतिहास तो उत्थान पतन की एक माला मात्र है जिसमें इस बात का पता लगाना कठिन है कि घटनाओं की मुख्य धारा किस ओर जा रही है। कभी-कभी उसमें प्रगति और प्रकाश के युग आते हैं। और फिर मौन ह्रास और विघटन के लम्बे युग आ जाते हैं। फिर भी इतिहास में जिन एशियाई क्रान्तियों के विवरण मिलते हैं उनमें से कुछ के उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। इनमें से ज्यादातर महान व्यक्तित्वों—फिर चाहे वे धार्मिक हों या राजनीतिक—से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। बौद्धधर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम से अधिक जीवन के प्रत्येक विभाग में विराट क्रान्ति करने वाला और क्या होगा! पर इन मौलिक प्रतिभाशाली पुरुषों की जन्म-गाथा को हटा लें तो भी ऐसा जान पड़ता है कि भारत, फिलिस्तीन, अरब तथा अन्य देशों में समाज सदियों तक बिना किसी व्याघात के अपना काम जारी रख सकता था। इनके अलावा सिकन्दर, जूलियस सीज़र कांस्टंटाइन, अकबर और शिवाजी-सदृश राजनीतिक प्रतिभाएं भी सामने

आती हैं। इन्होंने पर्याप्त राजनीतिक क्रान्तियाँ कीं। उनके कारण जन-समागम और संस्कृति-समागम का भी कार्य हुआ। इसका यह मतलब नहीं कि इन प्रतिभाओं के व्यक्तित्व के प्रकाश के लिए, खुलने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं किन्तु इन परिवर्तनों में उनके व्यक्तित्व का भाग उससे कम नहीं है जितना परिस्थितियों का है। यह भी सत्य है कि यदि ये प्रतिभाएँ न होतीं तो इन्हीं परिस्थितियों में समाज अपने सीधे अभ्यस्त मार्ग पर काफ़ी समय तक चलता रहता। ये क्रान्तियाँ, और क्रान्तियाँ तो वे निश्चय ही थीं, किसी असह्य शारीरिक और आर्थिक दुर्दशाओं के कारण नहीं हुईं। जैसे ये सभी प्रतिभाएँ विभिन्न तथा विविध प्रकार की थीं तैसे ही इनके कारण भी विभिन्न और विविध थे। इसी तरह वे वातावरण भी विभिन्न और विविध प्रकार के थे जिनमें उनका जन्म हुआ था।

इसी प्रकार भारत में हरिजनों का प्रश्न लीजिए। विश्व के ऐतिहासिक युग के बिल्कुल आरंभ से मानवता का यह विशाल भाग जिन शारीरिक और नैतिक दुर्दशाओं के बीच जी रहा है उनकी तुलना प्राचीन या नवीन किसी प्रकार की गुलामी में पाई जाने वाली दुःस्थिति से नहीं की जा सकती। फिर भी कोई क्रान्ति नहीं हुई। आजकल की उथल-पुथल भी उनकी कृति नहीं है बल्कि ऊपर से—ऊपर के लोगों द्वारा पैदा की गई है। अमेरिका के हबशियों—नीग्रो—के उद्धार के सम्बन्ध में भी यही बात है। आज हबशियों में अथवा अछूतों में जो जागरण है वह ऊपर से उनके लिए किये कार्य का ही परिणाम है।

पूर्व और पश्चिम के इन ऐतिहासिक उदाहरणों से सिद्ध होता है कि इतिहास को ऐसी कोई निश्चित परिस्थितियाँ ज्ञात नहीं हैं जिनके उपस्थित होने पर क्रान्ति का आगमन अनिवार्य हो उठे। ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं दिखाई पड़ती। इतिहासकारों ने जिन तथ्यों की माला को क्रान्ति के कारण—रूप में उपस्थित किया है वह सब घटना होने के पश्चात् ही किया है। फिर ये गिनाये हुए कारण भी इतने प्रकार के हैं, इतने विविध हैं तथा

उन युगों और देशों की विशेष स्थितियों तथा उन लोगों के व्यक्तित्वों से, जिन्होंने नाटक में प्रमुख अभिनय किया, उनका कुछ ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है कि उनके आधार पर किसी क्रान्ति के वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक पूर्ववर्ती कारणों का निरूपण करना प्रायः असंभव है। प्रत्येक घटना अपने में अद्वितीय—सी है। इतने पर भी यदि कोई पूर्ववर्ती कारण हैं तो वे भौतिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक और सैद्धान्तिक ही अधिक हैं।

एक ऐसा कारण जनता की धारणा में जो है और जो होना चाहिए उसके बीच का महान् अन्तर ही है। भौतिक—शारीरिक—और आर्थिक स्थिति के असह्य हो उठने की ज़रूरत नहीं। इसके लिए सिर्फ़ युग की आँखों को, जो अक्सर अनैतिहासिक होती हैं, अपने जीवन की कठोर वास्तविकता तथा अपने स्वप्नों के बीच के महान् अन्तर और तीव्र विरोधाभास को अनुभव करने मात्र की आवश्यकता है।

यदि यह अन्तर या विभेद बहुत अधिक है तो उथल-पुथल की संभावना की जा सकती है। इसका समर्थन पूर्व और पश्चिम में हुई अनेक धार्मिक और राजनीतिक क्रान्तियों से होता है। जब महान् परिवर्तन होने को होते हैं तो हमेशा मानसिक अशान्ति प्रकट होती है। आर्थिक बातों पर बहुत ज़ोर देने की प्रथा थोड़े समय से शुरू हुई है। आज जिस स्थिति में युरोप की 'सर्वहारा' श्रमिक जनता रहती है वह उस स्थिति से कहीं अच्छी है जिसमें एक सदी पहले उसके पूर्वज रहते थे। फिर भी उस ज़माने में लोग अपनी कठिनाइयों को धैर्य के साथ सहन करते रहे। इसका कारण यह था कि गरीबों की पहले ज़माने की पीढ़ियाँ अपनी स्थिति को पूर्वनिश्चित और अनिवार्य समझकर ग्रहण करती थीं, और इसीलिए उचित और आवश्यक भी मान लेती थीं। न्याय, समता और मानवाधिकार की नवीन धारणाओं के प्रचार एवं वैज्ञानिक शोधों ने यह प्रकट किया कि बुरी भौतिक स्थितियाँ अनिवार्य अथवा आवश्यक नहीं हैं; वे बिल्कुल ही अन्यायपूर्ण—अनुचित—हैं। वे पुरानी वफ़ादारियाँ, जिनके कारण स्थिति सहन करने योग्य हो जाती थीं, आज बिल्कुल टूट

गई हैं। आज मालिक एवं श्रमिक के बीच का सम्बन्ध केवल व्यापारिक और संयोगिक है। बड़े कारखानों में तो दोनों के बीच का सम्बन्ध एक दम खत्म हो गया है। प्रेम और भावना के बन्धन भी समाप्त हो गये हैं। आज जो कुछ है वह आर्थिक एवं भौतिक दृष्टि से उससे बुरा नहीं है जो पहले था लेकिन लोग आज सुधरी हुई परिस्थिति को भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं। दशा पहले से खराब नहीं हुई है किन्तु लोगों के मूल्य बदल गये हैं। सही और गलत, उचित और अनुचित, अपनी वफ़ादारियों और जिम्मेदारियों के विषय में उनकी धारणाओं, मतलब संक्षेप में उनके नैतिक मूल्यों, में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। जब कभी विचारों—धारणाओं—और बाह्य तथ्यों के बीच ऐसी खाई पड़ जाती है तब समाज एक *खतरनाक और संक्रान्ति अवस्था से गुज़रता है। जिस समतौल में* जीवन संभव होता है, वह बिगड़ जाता है और उस आवश्यक समतौल को पुनः स्थापित करने के लिए किसी प्रकार की उथल-पुथल सामने दिखाई दे सकती है।

दूसरी ऐसी मनोवैज्ञानिक शर्त मानव हृदय की वह आशा है जो ज़्यादा अच्छी अवस्था को संभवनीय मानती है। नवीन आशा मानवता के लिए एक अस्पष्ट पुकार है। वह पैग़म्बर—प्रवक्ता—की इस वाणी के समान है कि "ऐ मनुष्यो ! स्वर्ग का राज्य निकट है; तुम उसकी तैयारी करो।" इस आशा में विश्वास का तत्त्वांश है। यह किसी शुद्ध तार्किक भूमि पर आश्रित नहीं है। बल्कि यह उस उत्साह, स्फूर्ति और ताप का परिणाम है जो अपनी अग्रगामी यात्रा में मानवता के किसी भाग को समय-समय पर धर दबाते हैं। यह उत्साह आदि एक व्यक्तित्व, एक संगत वाक्य या फा[illegible]ला या एक प्रमुख घटना का फल हो सकता है। यह संभव है कि भली-भाँति परीक्षा करने पर वह व्यक्ति अन्त में अभिनयात्मक, अर्ध-विक्षिप्त, धर्मान्ध, पागल या अस्वस्थ निकले; वह नारा या वाक्य किसी प्रवंचक लोकोक्ति से सज्जित अर्धसत्य मात्र हो जिसे जन-मन सरलतापूर्वक दोहराने लायक पाकर ग्रहण कर लेता है और अपने विरोधियों के प्रति

आक्रमण एवं आत्मरक्षण के अस्त्ररूप में उसका उपयोग करता है। "मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार", "स्वतंत्रता, समता और बन्धुता" तथा "फालतू या अतिरिक्त मूल्य" इत्यादि ऐसे ही नारे या वाक्य हैं। इसी प्रकार उस घटना का समय-विशेष और देश-विशेष के बाहर शायद कोई महत्व न हो। मानव-हृदय में आशा कैसे पैदा होती है, इसे सर्वज्ञाता मनोविश्लेषणशास्त्री भी नहीं जानता। यह आशा उस समय भी पैदा हो सकती है जब मानवता अपनी उत्थान की मोड़ में हो और प्रगति की दिशा में कुछ रास्ता तय कर चुकी हो। सामान्यतः यह उस समय उदय होती है जब श्रेष्ठतर अवस्था की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। आज की श्रमिक जनता—प्रोलेतरियत—की आशा इसी प्रकार की है। उन्नीसवीं सदी के उदार दानियों एवं मानवतावादियों ने न्याय और समता की धारणाओं-द्वारा जो कुछ प्राप्त किया उसी से यह आशा पैदा हुई; मजूर संघों ने अपने प्रयत्नों, संघर्षों, कष्टों और बलिदानों से जो कुछ सफलता प्राप्त की उससे भी इस प्रकार की आशा पैदा हुई। ज्यों-ज्यों अवस्था सुधरती है, आशा ऊँची उठती जाती है। यह दुर्बलता और निराशा से नहीं बल्कि शक्ति और गौरव की भावना से, जिसका स्वप्न लोग देखते हैं, जन्म पाती है। यह इसलिए नहीं पैदा होती कि वास्तविक अवस्थाएँ सबसे खराब हैं बल्कि इसलिए कि भविष्य प्रलोभनकारी, मंजुल तथा ज्वलन्त इन्द्रधनुषी रंगों से पूर्ण है।

एक और भी बात है जो राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सब प्रकार की क्रान्तियों के साथ अनिवार्य रूप में दिखाई पड़ती है: यह बात कि नई आशा, नया विश्वास, नई धारणा, नवीन धर्मोपदेश एक व्यक्ति के रूप में मूर्त्तिमान होते हैं। वह व्यक्ति अपने अन्तर और अपने जीवन में धारणा को उस सीमा तक मूर्त्त करता है जिस सीमा तक करना किसी मानव के लिए संभव है। धारणा या विचार रखने वाला व्यक्ति अपना मिशन रखनेवाले आदमी की तरह है। वह उसी में रहता है, चलता है और उसी में उसका जीवन है। वह अपने कार्य में तन्मय रहता

है। ऐसा जान पड़ता है, मानो किसी ने उसे अभिभूत कर रखा हो। उसके लिए कोई कष्ट, कोई कठिनाई, कोई बलिदान अधिक नहीं है। जीवन और मृत्यु की उसे कोई चिन्ता नहीं; केवल विचार, केवल धारणा की चिन्ता उसके लिए है, उसी का महत्व है। एक विचार रखने वाला आदमी सब कुछ दाँव पर चढ़ा देनेवाले के समान है। इसलिए उसकी छूत दूसरों को लगती है। वह मार्ग में आनेवाली प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक मनुष्य को पार कर जाता है। वह अपने सहकारियों को मंत्र-मुग्ध कर लेता है। उस समय बुद्धि और तर्क काम नहीं देते। वे तो उसका अनुकरण करते जान पड़ते हैं। अपने अन्दर तथा अपने साथियों में वह एक प्रकार का उत्साहमय ज्वर पैदा कर देता है जो अपने पंजे में कस लेता है और अप्रतिहत बन जाता है। उस समय वह महत्तम होता है। यह भी मालूम होता है कि एक बार जब विचार कार्य रूप में परिवर्तित किया जाता है और सफल हो जाता है और उस व्यक्ति के जीवन का उपयोग हो चुकता है, तब उसकी शक्ति और उसका आकर्षण नष्ट हो जाता है। तब वह जीव-जगत् में अपने सामान्य स्थान पर लौट आता है। सम्पूर्ण गुण मानो उसे छोड़ कर चले जाते हैं। अब वह उन चमत्कारों को करने में असमर्थ है जो पहले कर पाता था; सामान्यतः उसका कार्य समाप्त होते ही वह गायब हो जाता है। किन्तु जब तक उसका स्वीकृत कार्य पूर्ण नहीं होता तब तक वह एक चमत्कारिक और आकर्षण-पूर्ण जीवन बिताता है। उस समय कोई तलवार या बन्दूक की गोली उसे स्पर्श करने में असमर्थ जान पड़ती है। उसके शत्रुओं के अत्यन्त चतुराई से सोचे हुए उसकी हत्या के षड्यंत्र व्यर्थ हो जाते हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई विशेष शक्ति उसकी रक्षा कर रही हो। यदि रंग-मंच से खुद भी हट जाने का प्रयत्न करता है तो उसका भी कुछ नतीजा नहीं निकलता। एक निष्ठुर नियति अप्रतिहत गति से उसे संचालित करती रहती है; वह उसे जरा भी विश्राम नहीं देती; न उसके साथियों या विरोधियों को ही विश्राम लेने देती है। उसका कार्य तो होकर

रहेगा। ऐसे ही पुरुष होते हैं जिनके द्वारा प्रायः क्रान्तियों का उद्भव होता है।

इसलिए यदि क्रान्ति के पूर्व कोई आवश्यक शर्तें हैं तो भौतिक एवं आर्थिक दशाओं की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक और सैद्धान्तिक क्षेत्रों में ही वे प्राप्त होंगी। भौतिक एवं आर्थिक दशाएँ आवश्यक पार्श्वभूमि का काम दे सकती हैं। असलियत तो यह है कि क्रान्ति के आवश्यक पूर्वहेतु रूप में आर्थिक अवस्था पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देना एक मार्क्सिस्ट मूढ़ग्राह (dogma) है। विश्वक्रान्ति का तात्पर्य केवल आर्थिक अथवा प्रधानतः आर्थिक उद्भव की अपेक्षा कहीं व्यापक था और है। इस मनोवैज्ञानिक और सैद्धान्तिक पार्श्वभूमि के ही कारण आजकल के क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार पर इतना ज़ोर देते हैं। कथित प्रति-क्रान्तियों के कारण विचारों की शक्ति का पता चलता है। इन्होंने सदा पुराने और कट्टर विचार का नया अर्थ और नई व्याख्या करके उनके प्रचार और उपदेश पर निर्भर किया है। प्रतिक्रान्ति तो ऐसी भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों के बीच में भी आ जाती है जो कम-ज़्यादा समान होती हैं। जो चीज़ नक़्शे को बदल देती है, वह मूल्य, विचार और विशिष्ट व्यक्तित्व है। इसीलिए प्रत्येक क्रान्ति अपने पूर्व के शासन के प्रति उतनी निष्ठुर और छिद्रान्वेषी नहीं होती जितनी वह मत व्यक्त करने की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में होती है। अकट्टरता और प्रचलित मत का विरोध क्रान्ति के विरुद्ध भयंकर पाप हैं। वे धर्म-क्षेत्र में स्वधर्म का तिरस्कार करके परधर्म ग्रहण करने के समान हैं जिसका पुरस्कार सूली और जीवित अग्निदाह है। और सब बातों के बारे में रियायत की जा सकती है पर सिद्धान्तवाद ('आइडियालोजी') के सम्बन्ध में, विरोध या शिथिलता नहीं। भले ही वह अपने पूर्व सहकर्मियों में ही हो, उसका तो निर्दयतापूर्वक दमन किया ही जाना चाहिए। और यह दण्ड न केवल कठोर होना चाहिए वरन् तुरन्त, तेजी से, दिया जाना चाहिए। क्योंकि विचार शारीरिक व्याधियों से कहीं अधिक छुतहे होते हैं। विज्ञान को जितने प्रकार के

कीटाणुओं का पता है उन सब से कहीं अधिक तेजी के साथ वे फैलते और तादाद में बढ़ते हैं। फिर अपने प्रभाव में भी वे कहीं ज्यादा विनाशक होते हैं। जो लोग विचार-द्वारा शक्ति पर आरूढ़ हुए हैं वे शक्ति पर प्रभुत्व रखने वाले पिछले आदमियों की अपेक्षा उसके महत्व और प्रभाव को अधिक अच्छी तरह जानते हैं। पुरानी धारणा के लिए किसी विशेष उत्तेजन की आवश्यकता नहीं हुआ करती। मानव के अन्दर निहित प्राकृतिक गतानुगतिकता, अभ्यास और सुषुप्ति सब उसकी सहायता करते हैं। फिर उसने विशाल स्थापित स्वार्थ पैदा कर दिये हैं। नया विचार—नई धारणा—को तो केवल अपनी शक्ति का भरोसा है। जब उसपर आक्रमण होता है तो वह गतानुगतिकता, अभ्यास, सुषुप्ति या विशाल स्थापित स्वार्थों की ओर मदद के लिए नहीं देख सकता क्योंकि उन सब को वह नष्ट कर चुका होता है और उनकी जगह नई चीज़ें उत्पन्न करने के लिए उसके पास समय का अभाव होता है। इसलिए स्वभावतः वह दमन का सहारा लेता है और इस दमन की गति यदि तेज़ नहीं हुई, यदि उसने शीघ्रता नहीं की तो नवीन क्रान्ति की गाड़ी ही उलट जा सकती है। कदाचित् अफग़ानिस्तान में यही बात हुई। अमानुल्ला असमंजस और हिचकिचाहट में पड़ गये। वह अपने ही देशबन्धुओं का खून बहाने को तैयार न हुए। उनकी अपेक्षा लेनिन, कमाल पाशा, मुसोलिनी, हिटलर और स्तालिन ने कहीं ज्यादा कठोरतापूर्वक दमन किया।

परन्तु तर्क के लिए यह भी मान लीजिए कि भौतिक और आर्थिक अवस्था ही क्रान्ति के निर्णायक अंग हैं, यद्यपि हम ऐसा नहीं मानते। तब भी इतिहास, राजनीति या अर्थशास्त्र का कोई विद्यार्थी निश्चयपूर्वक यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि अमुक समय में क्रान्ति आयेगी। वह किसी दिन आ सकती है; और वह बहुत समय तक भी नहीं आ सकती और इस बीच समाज को नवीन पुनर्व्यवस्था प्राप्त हो सकती है।

ऐसी स्थिति में अपने सामने के कर्तव्य की उपेक्षा करना अदूरदर्शी नीति होगी। मानवी कष्टों के निराकरण के प्रयत्न से इन्कार करना वैसा

ही होगा जैसा कि कोई डाक्टर, जो किसी मुहल्ले के सुधार के लिए सामान्य स्वच्छता की एक ऐसी योजना बनाने में व्यस्त है जिससे पचास वर्षों में सब रोग समाप्त हो जायँगे, एक रोगी की चिकित्सा करने से इन्कार कर दे। ऐसी परिस्थिति में डाक्टर को सदा दोहरे कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। एक ओर वह अपनी विशाल और खर्चीली योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करता है; दूसरी ओर उसे रोगी को तुरन्त राहत देनी पड़ती है। अगर वह ऐसा न करे तो अपने पेशे के उस सदाचरण से गिर जायगा जिसे चिकित्सकों और रोगियों की पीढ़ियों के अनुभव के बाद निश्चित किया गया है। यदि डाक्टर सामने के कष्ट पर ध्यान नहीं देगा तो मानवी कष्ट और वेदना के प्रति इस उपेक्षा का प्रतिकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव न केवल उसके पेशे पर बल्कि दूर-दूर तक जनता पर भी पड़ेगा। इसी प्रकार अपने आस-पास के यथार्थ कष्ट और गरीबी के प्रति उदासीनता से सुधारक और जनता दोनों की श्रेष्ठ भावनाएँ तथा अनुभूतियाँ मर जायँगी और लोग मनुष्यों को कष्ट में तड़पते देखने और फिर भी उसे दूर करने के लिए प्रयत्न न करने के आदी हो जायँगे। इतना ही नहीं, यदि इस नीति से चिपटा जायगा तो वह मनुष्यों को पुर्ज़े और औज़ार बना छोड़ेगी। एक विशिष्ट नीति सफल हो, फिर चाहे उसमें कितने ही जीवन नष्ट हो जायँ! चालाक आदमी, जो शायद उतने ही गलत होते हैं जितने सही होते हैं, स्त्री पुरुषों को अपनी योजनाओं में शतरंज की गोटियाँ बना लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में, मानव प्राणी का अपना कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। ऐसे ही खतरनाक विचारों के कारण अतीत युगों में कत्लेआम, जीवित दाह ('आतो-दा-फी*—auto-da-fe) और भयत्रस्त करने वाले शासन सामने आते रहे हैं। आज भी

---

*आतो—दा—फी : मध्ययुग में स्पेन और पोर्तगाल में स्वतंत्र मत व्यक्त करने वालों को दिया जाने वाला धर्म-दण्ड, जो प्रायः अभियुक्त के जलाने के रूप में व्यक्त होता था।—अनुवादक।

उनका शिकार, और ज़्यादा पूर्णता के साथ, जारी है क्योंकि आज दमन और उत्पीड़न के यंत्र उससे कहीं ज़्यादा शक्तिमान हैं जितना पहले थे। इस प्रकार मानवजीवन की पवित्रता नष्ट हो गई है।

सुधारक के लिए यह कोई तर्क नहीं है कि अत्याचारी, शक्ति पर अधिकार करने वाला स्वार्थी, आक्रमणकर्त्ता, विजेता और धर्मान्ध अपने स्वार्थपूर्ण शक्ति-विस्तार के खेल में आदमियों को कठपुतलियों की भाँति प्रयोग करते हैं। स्पष्टतः वे आदमियों का साधन के रूप में उपयोग करते हैं। सुधारक उनके उदाहरण से अपना बचाव नहीं कर सकता। वह उच्चतर उद्देश्यों के लिए, मानवी प्रेरणाओं के लिए कार्य करता है। उसे तो अपने सामने और अपने देशबन्धुओं के सामने एक आदर्श रखना है—न्याय, दया और मानजीवन की रक्षा का आदर्श। उसे तो अधिक ऊँचा मान—'स्टैंडर्ड'—अपने सामने रखना ही होगा।

यदि भौतिक और आर्थिक अवस्था पर आश्रित हमारे विरोधियों की दलीलों को ठीक मान लिया जाय तो क्रियात्मक और निश्चयात्मक अनुसरण करने के लिए उनमें क्या चीज़ है? अगर हम स्थिति को बिल्कुल खराब बनी रहने दें, वह जैसी है उसी में प्रसन्नता का अनुभव करने लगें और सिर्फ़ इसलिए उसे सुधारने को हाथ-पाँव हिलाने से इन्कार कर दें कि इस प्रकार कष्ट दूर होने से जनता के असन्तोष की धार कुन्द हो जाती है, तब तो सम्पूर्ण प्राकृतिक विपत्तियों का स्वागत करना हमें उचित प्रतीत होगा। नहीं, इससे भी आगे जाना और असन्तोष की धार को तेज़ करने के उद्देश्य से स्थिति को और खराब करने का प्रयत्न करना भी हमारे लिए उचित होगा। किसी प्रकार की आगज़नी समर्थनीय—उचित—होगी बशर्ते कि क्रान्ति की सफलता के लिए वह बुरी स्थिति को और बुरी कर दे। सिर्फ़ एक ही चालाकी करनी होगी कि सारी ज़िम्मेदारी उन शक्तियों पर पड़े जिनके ख़िलाफ़ असन्तोष पैदा करना है और जिनको उनके अन्यायपूर्ण शक्तिपीठ से क्रान्ति-द्वारा अलग हटाना है। अगर प्रवंचनापूर्ण और असत्य प्रचार के द्वारा अधिकारियों पर कालिमा

पोती जा सकती है तो वह भी किया जाना चाहिए बशर्ते उससे क्रान्ति कुछ निकट आती हो। इस तरह के विचार की तार्किक और पैशाचिक परणति 'परिणाम से साधन का औचित्य सिद्ध होता है' (End justifies the means) वाले सिद्धान्त में होती है।

फिर प्रचलित नीति—सदाचार - स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त का समर्थन न करते हुए भी उसी का अनुसरण करती रही है—विशेषतः राजनीतिक और सामूहिक जीवन में। किन्तु अतीतकाल में मानव-आचरण के लिए कुछ परम्परागत मर्यादाएँ थीं। सबसे बड़े क्रान्तिकारी और सबसे बड़े ज़ालिम भी उसके बंधन से मुक्त न थे। परम्परा ने एक अन्तःकरण का निर्माण कर दिया था जिसके कारण 'साध्य की प्राप्ति ही साधन का औचित्य सिद्ध करती है' वाले निर्दय सिद्धान्त पर व्यावहारिक रोकथाम लग गई थी। यह ठीक है कि खतरनाक मौकों पर, परिस्थितियों के दबाव से ये प्रतिबन्ध—रोकथाम—टूट जाते थे परन्तु ऐसा थोड़े ही समय के लिए होता था। नीति—सदाचार,—प्रथा, धर्म, यहाँ तक कि लोगों के अन्धविश्वास पर पक्की नींव पड़ी थी। आज जब प्रचलित नीति ("मोरैलिटी") सन्देहग्रस्त है; धर्म एक समाप्त हो चुकी शक्ति समझा जाता है; अन्धविश्वास का स्थान विज्ञान ने ले लिया है; और प्रथा तो सदा बदलती रहती है, अगर ऐसे खतरनाक और विभेदकारी सिद्धान्त आचरण का पथ-प्रदर्शन करेंगे तो मानवता का अन्त बिल्कुल शून्यवाद में—बिल्कुल अराजकता में होगा। तब सफलता को छोड़कर समूहजीवी मानव (human group animal) के लिए कोई आधार नहीं रह जायगा, आचरण का कोई स्वीकृत मान—स्टैंडर्ड—नहीं बचेगा। इस आती हुई घोर अराजकता के लक्षण अभी से दिखाई दे रहे हैं। युरोपीय महायुद्ध (१९१४-१८) ने यह प्रकट कर दिया कि कुछ गुटों की शत्रुता मानवता को किस गहराई तक नीचे गिरा सकती है, और वह सब सफलता के नाम पर; क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अपने लक्ष्य को उचित सिद्ध करता था। आगामी युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्रों की जो तैया-

रियाँ कैम्पों—शिविरों—कारखानों और प्रयोगशालाओं में हो रही हैं, ऐसी हैं कि अत्यन्त दुस्साहसी और अत्यन्त सिद्धान्तहीन व्यक्ति भी ठहर कर सोचेगा कि जब साधन पूर्णतः साध्य के अधीन हो गया है तब क्या नीति के वर्तमान आधार संगत सिद्धान्तों पर अश्रित हैं? क्या इसीलिए तो गांधी ज़ोर नहीं देता कि उसकी दृष्टि में साधन और साध्य पर्याय-वाची हैं?

मुझे पता है कि ख़तरे के समय मानव-बुद्धि चीज़ों की ठीक और सुन्दर नाप-तौल करने में असमर्थ रह जाती है। सबके पहले हम कार्यशील पशु हैं। सम्पूर्ण विचार कार्य करने के ही तात्पर्य से हैं। इसलिए इस पागलपन से भरे मानवी दौड़ में दौड़ते हुए भी हमें सोचना पड़ता है। खतरे के समय जल्दी में मोटा हिसाब किताब लगाना पड़ेगा। आज या भविष्य में वृहत्तर जीवन की रक्षा के लिए कुछ जीवन का बलिदान करना ही पड़ेगा। हज़ारों आदमियों के साथ हज़ारों मील की यात्रा में चल पड़े गांधी के लिए रास्ते में रुककर पंगु और दुर्बल यात्रियों की देख-रेख करना असम्भव है। अगर उसे विनाश से बचकर चलना है तो ऐसे लोगों को भाग्य के भरोसे छोड़कर उसे आगे बढ़ना ही पड़ेगा। कोई लेनिन क्रान्ति के बीच, दुर्भिक्ष पड़ने पर भी, प्रधान मसले से अपना ध्यान दूसरी ओर नहीं हटावेगा। लेकिन ऐसी बात परिस्थिति के भयंकर दबाव के समय ही, जब आदमी जीवन मृत्यु के युद्ध के बीच पड़ा हो, उचित ठहराई जा सकती है। यदि ऐसी बातों को सामान्य सिद्धान्त बना लिया जाय और कमो-बेश/स्थिर अवस्था में उनका प्रयोग किया जाय तो वे खतरनाक होंगी। युग का बोझ और दबाव बहुत अधिक हो सकता है; चीज़ें प्रवाह के बीच में हो सकती हैं, फिर भी जब तक एक आदमी बिल्कुल क्रान्ति की पकड़ में न हो, जब कि एक ग़लत क़दम का मतलब विनाश होता है, तब तक कोई मानवी विपत्ति, कष्ट और मृत्यु को दार्शनिक उदासीनता के साथ नहीं देख सकता। जीवन की औषधि को जीवन का खाद्य—भोजन—नहीं बनाया जा सकता। समय की दृष्टि से

क्रान्तियाँ बिलकुल अनिश्चित वस्तुएँ हैं। वे आज आ सकती हैं और वे आधी सदी तक न आवें, ऐसा भी हो सकता है। अपने देशबन्धुओं का एक सच्चा कल्याण-साधक उनकी वर्तमान पीढ़ी के भाग्य के साथ मज़ाक नहीं कर सकता; उसे सावधान रहना पड़ेगा। क्रान्ति की तैयारी की गति धीमी करने का खतरा उठाकर भी मानवी विपदाओं को तुरन्त दूर करने की चेष्टा उसे करनी होगी। जब विहार में भूकम्प आया तो वहाँ सविनय अवज्ञा आन्दोलन व्यवहारतः स्थगित कर दिया गया। विरोधी पक्ष, मतलब सरकार, ने भी सब क़ैदियों को छोड़ दिया। देशभक्त इससे कम क्या कर सकते थे।

इसलिए अच्छे डाक्टरों की तरह सुधारकों को भी दोहरे कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है। आनेवाली क्रान्ति के लिए जनता को तैयार करते हुए भी उनको तुरन्त की समस्याओं को हल करना पड़ेगा। इन समस्याओं को हल करना स्वयं क्रान्ति के लिए एक आवश्यक ट्रेनिंग—शिक्षण है। इससे क्रान्ति के नेताओं का प्रभाव जनसमूह पर भी फैल जायगा क्योंकि वे दैनिक कठिनाइयों में उन लोगों की सहायता करते रहे हैं। अगर जरूरी समझा जाय तो आन्दोलन की शक्तियों का विभाजन भी किया जा सकता है; कुछ लोग तुरन्त की अनिवार्य ज़रूरतों की पूर्ति में लग सकते हैं और दूसरे लोग आने वाली क्रान्ति के लिए वातावरण पैदा कर सकते हैं। अन्त में, जब इतिहासकार लड़ाई के सम्मान का बँटवारा करने बैठेगा तब, कौन जानता है कि सबसे अन्तिम को प्रथम और प्रथम को अन्तिम स्थान न प्राप्त होगा। तब शायद सबसे विनीत को सबसे आगे स्थान मिल जाय।

बारडोली-जैसे संग्राम, किसान और ग्राम, व्यापार संघ, राष्ट्रीय शिक्षा, अस्पृश्यता-निवारण, खादी, शराबबन्दी और रचनात्मक ढंग के सब काम एक प्रकार से तुरन्त की समस्याएँ हल करने के लिए हैं। इन सब क्षेत्रों में पूर्ण प्रभावशाली कार्य तो शक्ति पर वास्तविक प्रभुत्व प्राप्त कर लेने के

बाद ही किया जा सकता है। सुधारक को श्रद्धा रखनी ही पड़ेगी। वह एक निर्धारित समय के अन्दर क्रान्ति नहीं ला सकता। क्रान्ति की गाड़ी अपनी चाल से आयेगी और अपना समय लेगी। इस बीच उसे लक्ष्य को आँखों से ओझल न करते हुए भी अपने हाथ के काम को श्रद्धा के साथ करना पड़ेगा। एक ऊपर से देखने वाले और गहराई की ओर, अन्तर की ओर निगाह न डालने वाले को ऐसा लग सकता है कि ज़मीन की धूल से आच्छादित प्रतिदिन के कार्य के बोझ में वह लक्ष्य को भूल गया है। १६२२ से १६२६ तक गांधी के सम्बन्ध में ऐसा ही जान पड़ता था। मालूम पड़ता था कि वह लक्ष्य भूल गये हैं। उन दिनों बहुत से लोग ऐसा सोचते और कहते थे। लेकिन तथ्य की बात यह है कि तैयारी का काम बराबर जारी था। १६३० में यह बात स्पष्ट हो गई। अगर इस प्रकार की मौन और आवश्यक तैयारी न हो तो जनता के अनुकूल उत्तर देने को तैयार होने पर भी क्रान्तिकारी अपना अवसर खो दे सकता है। इसीलिए एक निरन्तर और अविश्रान्त कार्य करने वाले की आशा और श्रद्धा के साथ गांधी कहता है—"मेरे लिए एक क़दम काफ़ी है।"

किसी वैज्ञानिक समाजवादी नेता ने ट्रेड यूनियन—व्यवसायसंघों—के कार्यों की निन्दा नहीं की है। वे भी तो सुधार का ही कार्य करते हैं और उनका सम्बन्ध भी तो तुरन्त की समस्याओं से है। कभी-कभी तो वह इतने रुपया आना पाई का रूप धारण कर लेता है। फिर भी यह आवश्यक है। यह नैतिक गुण पैदा करता है;—एकता, संघटन, दलगत देशभक्ति (Group Patriotism), सहयोग की भावना, आज्ञाकारिता और नियंत्रण—जिसके साथ अमर्यादित महत्वाकांक्षा और ईर्ष्या पर आवश्यक दबाव भी आता है और जिनके बिना कोई सफल आन्दोलन नहीं किया जा सकता—इत्यादि गुण पैदा होते हैं। इन रचनात्मक कार्यों को छोड़ दें तो सामान्य कार्यकर्ता क्या करेंगे? वे सिर्फ़ विचारधारा पैदा करते रहने और नारे लगाते रहने का काम तो नहीं कर सकते। उन्हें धीरज के

साथ काम करना और मामलों की व्यवस्था करना सीखना पड़ेगा।

फिर क्या कोई क्रान्तिकारी कह सकता है कि आज समग्र देश की जनता में एक क्या दस क्रान्तियों के लिए पर्याप्त गन्दगी, रोग, गरीबी, पतन और अज्ञान नहीं है ? उनमें कुछ कमी होने से मानवी अन्याय और विषमता की धार, जो सभी दृष्टियों से काफ़ी तेज़ है और सुधारक के क्षुद्र प्रयत्नों के बावजूद तेज़ रहना चाहती है, कुन्द न हो जायगी। यह भी भय नहीं है कि क्रान्ति की भौतिक और आर्थिक पूर्वावश्यकताएँ समाप्त, या कम भी, हो जायँगी। जहाँ तक रचनात्मक कार्यक्रम का सम्बन्ध है और जैसा कि हमारे विरोधी हमें याद दिलाते रहते हैं, वह विषमता और ग़रीबी की समस्या के एक किनारे को भी स्पर्श नहीं करता। यदि ऐसा है, और ऐसा है ही, तो उन्हें यह न सोचना चाहिए कि हम अपने नम्र कार्यों से जो थोड़ी सहायता करते हैं, उससे क्रान्ति का दिन दूर होता जायगा। हम लोग जो किसान के हाथ में चन्द पैसे देकर खुश हैं, कितने खुश होंगे यदि वे पैसे क्रान्ति के जादू से निकल या चाँदी के सिक्कों में बदल जायँ ! हम उनमें नहीं हैं जो गरीबों को ज़्यादा अच्छी मज़दूरी मिलते और अधिक समस्थिति में जाते देखकर बुरा मानें। जो आदमी किसानों के हाथ में, उनके फालतू वक्त में किये गये काम के लिए ही सही, चन्द पैसे जाने से सन्तुष्ट हो जाय तो वह न देशभक्त होगा, न दयाशील मानव। निश्चय ही यह एक घटिया महत्त्वाकांक्षा होगी। हम तो चाहते हैं कि हमारी जनता अपने पूर्ण शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक विकास को प्राप्त हो। इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि गांधी-जैसा आदमी इससे कम की इच्छा ही नहीं कर सकता। लेकिन वह और उनके साथी व्यावहारिक आदर्शवादी हैं। उनके लिए परिस्थिति का दोष यह है कि गरीबों के लिए ये पैसे भी बड़ा महत्त्व रखते हैं। उनके लिए तो यह जीवन-मरण का प्रश्न है।

इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रान्तिकारी उद्देश्य को न भूलते हुए भी रचनात्मक कार्यकर्ताओं को वर्तमान स्थिति में सामाजिक और आर्थिक

पुनर्निर्माण के दैनिक कार्य की ज़िम्मेदारी उठानी चाहिए। १६२० से अब तक हमारे आन्दोलन का इतिहास इस दलील का काफ़ी समर्थन करता है। जब भी सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया गया है, जब भी सीधी लड़ाई का निश्चय हुआ है तब खद्दरभक्त और रचनात्मक कार्यक्रम के प्रचारक कभी सेना की पिछली क़तार में नहीं पाये गये। जब भी थके सैनिकों ने लड़ाई बन्द करने—'हाल्ट'—की आवाज़ बुलन्द की है तब भी वे खद्दर मनोवृत्ति वाले लोग नहीं थे जिन्होंने 'हाल्ट' ('रुको') की पुकार लगाई हो। जब आफ़िसों का—अधिकार का सवाल खड़ा होता है तो वे कौन हैं जो पीछे हट जाते हैं? जैसा कि अनुभव ने प्रकट किया है वे खद्दर और बैलगाड़ी की मनोवृत्ति वाले लोग ही होते हैं। और जब कठोर, आकर्षण-हीन मशक्कत की ज़रूरत पड़ती है तब वे कौन हैं जो आगे होते हैं? निश्चय ही, खद्दर मनोवृत्ति ने कभी परीक्षा की घड़ियों में साहस और स्फूर्ति का अभाव नहीं प्रदर्शित किया। जहाँ तक अनुशासन का सम्बन्ध है उसने सबसे कम कठिनाई खड़ी की है। अगर कष्ट-सहन, बलिदान की तैयारी, आज्ञापालन, संघटन, ईमानदारी तथा अनुचित महत्वाकांक्षा और ईर्षा का अभाव एक अच्छे और प्रभावशाली क्रान्तिकारी के लक्षण हों तो रचनात्मक कार्यकर्ता देश के किसी भी क्रान्तिकारी की तुलना में ठहर सकते हैं।

इस सारी बहस में मैंने दलगत या सामूहिक जीवन में अहिंसा की नूतन सदाचारनीति का ज़िक्र नहीं किया है। जिसे आज भी भली तथा व्यावहारिक राजनीति और अर्थनीति समझा जाता है मैंने सारी बहस में उसी का आधार लिया है। मैंने अपने तर्कों का आधार यह नहीं रखा है कि क्या होना चाहिए बल्कि वह जो वास्तव में है। मैंने कहीं आजकल की सदाचार-नीति के आधार पर आक्षेप नहीं किया है। मैंने गाँधीजी की अहिंसा और सत्य के नये, फिर भी पुराने, सिद्धान्तों की बाबत कुछ नहीं कहा है।

गांधी-मार्ग

द्वितीय खण्ड

अहिंसा

: ७ :

दो क्रान्तियाँ

प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं और आज हमारे सामने जो समस्या है वह सचमुच विशाल है। यह केवल राजनीतिक नहीं है। यह समग्र जीवन को उसके विविध क्षेत्रों में स्पर्श करती है। दूसरे लोगों को अपने समय में केवल एक क्रान्ति के अनुसार अपना जीवन गठित करना पड़ा होगा। पर हमें अपने समय में एक दोहरी क्रान्ति के अनुसार अपना जीवन गठित करना है। एक से हमारा पल्ला छूटा ही न था कि उससे बड़ी और विस्तृत दूसरी क्रान्ति से हमारा सामना हो गया।

पहली तो वृटिश राज के आगमन और स्थापना के साथ शुरू हुई। हम पश्चिम की संघटित, यौवनमयी शक्ति से घिर कर, जिसने एक प्रबल तूफान के समान जो चीज़ सामने आई उसे उड़ाकर फेंक दिया, लगभग एक सदी के थोड़े समय में प्राप्त उसकी सफलताओं को अश्चर्य-विमूढ़ हो देखते रह गये। हमने सोचा कि सिर्फ़ उनके उपायों की नकल करके, उनके मूल्यों को स्वीकार कर और जीवन की समस्याओं के प्रति उनके रुख को अपना कर हम भी उनकी शक्ति, उनकी कुशलता और जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इसी उत्साह में आकर हमने कठोर निर्दय चोटों से एक दोगली सभ्यता गढ़ डाली, जो पाश्चात्य सभ्यता से, अपनी हीनता के कारण ही अलग पहचानी जा सकती थी। वह खच्चर की भाँति मज़बूत और उपयोगी दिखाई देती थी किन्तु वस्तुतः अनुत्पादक—बाँझ—थी। और यह स्वाभाविक था। एक जाति के साथ, जिसने कभी गहरे प्रयत्न किये थे और बहुत कुछ प्राप्त किया था, दूसरी और क्या बात होती! इसलिए उसे ठहर कर सोचना और अपने अतीत का लेखा-जोखा लेना

पड़ा और युगों के अनुभव और संस्कार से उत्पन्न अपनी प्रतिभा—अपने स्वधर्म और स्वभाव के अनुकूल एक नवीन मार्ग खोजना पड़ा।

यही लेखा-जोखा और अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल एक नया मार्ग खोज निकालना दूसरी क्रान्ति है। दोनों साथ-साथ चल रही हैं। दोनों के भक्त और प्रचारक हैं, यद्यपि पहली शिथिल होती जा रही है। दूसरी ने जीवन के उन सभी क्षेत्रों में, जिनमें वह भारतीय स्वभाव के अनुसार रास्ता निकालने में सफल हुई, रचना की है, सृष्टि की है। मैं अपनी बात स्पष्ट करने के लिए बंगाल से कुछ उदाहरण लूँगा।

एक धार्मिक जनता के साथ पश्चिम के प्रथम संसर्ग ने एक धार्मिक उथल-पुथल पैदा की जिससे एक नये सम्प्रदाय—ब्राह्मसमाज—की स्थापना हुई। उसने बहुत काम किया। उसने कुछ महान् व्यक्तियों को जन्म दिया। लेकिन वह कोई भारतव्यापी आन्दोलन न पैदा कर सका, न सर्व-सामान्य तक पहुँच सका, न व्यस्त संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सका। यह कार्य तो ज़्यादा शुद्ध भारतीय आन्दोलन ने किया—मेरा मतलब उस आन्दोलन से है जिसने श्री रामकृष्ण से स्फूर्ति ग्रहण की और जिसका प्रवर्तन स्वामी विवेकानन्द की प्रतिभा-द्वारा हुआ। वह आन्दोलन न केवल सर्वसाधारण में फैल गया और उसने समग्र देश को प्रभावित किया बल्कि विदेशों में भी बहुतों का ध्यान आकर्षित किया। आज श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द के नाम विश्व के धर्मों के इतिहास की सम्पत्ति हैं।

साहित्य में भी जब तक बंगाल केवल अनुवाद करके सन्तुष्ट रहा तब तक वह कोई उल्लेखनीय सृष्टि न कर सका। किन्तु शीघ्र ही बंकिम, शरच्चन्द्र और कवि—रवीन्द्रनाथ—का आगमन हुआ। कौन कहने का साहस करेगा कि वे पश्चिमी वस्त्रों से सज्जित हैं? इस बार भी परिणाम गौरवपूर्ण हुआ। कवि—रवीन्द्रनाथ—का नाम तो सारी दुनिया में फैल गया।

चित्रकला में रवि वर्मा ने पश्चिमी यथार्थवादी प्रणाली पर देवियों के चित्र बनाये, जो भारतीय नारीत्व की विभ्रमपूर्ण शोभा से सर्वथा हीन थे।

अब हम नूतन बंग-प्रणाली से परिचित हो गये हैं जो वस्तुतः बंगाल से स्फूर्ति ग्रहण करनेवाली चित्रकला की नवीन भारतीय प्रणाली है। इसमें अजन्ता की किंचित् सुगन्ध है। इसकी अत्यन्त पार्थिव मूर्तियाँ भी तुरन्त आकाश से उतरी प्रतीत होती हैं। इसने संसार की चित्र-शाला में एक स्थान प्राप्त कर लिया है।

विज्ञान में जगदीशबसु ने, अपनी जातीय भावना के अनुकूल कार्य करके जीवन के ऐक्य का प्रदर्शन किया। दूसरे स्थानों में विज्ञान जीवन-नाशक सूत्रों का अन्वेषण कर सकता है; भारत में वह केवल जड़ और चेतन—स्थिर और जंगम—वस्तुओं की एकता का प्रदर्शन कर सकता है।

इतने उदाहरण काफ़ी हैं। जो कुछ भारतीय भावना से स्फूर्त और अनुप्राणित था वह थोड़े अरसे में फलदायक—सृजनात्मक—हो गया। पर राष्ट्रीय जीवन के जिन अंगों ने विदेशी पकड़ से अपने को मुक्त नहीं किया, उनको न केवल बाढ़ मारी गई बल्कि वे बंजर सिद्ध हुए। स्थापत्य (भवननिर्माण कला) का ही एक उदाहरण लीजिए : सरकार, भारतीय राजाओं और बड़े ज़मींदारों की कोशिशों के बावजूद ब्रिटिश आगमन के पश्चात् दक्षिण के मन्दिरों और ताजमहल के देश में एक भी ऐसी इमारत न खड़ी की जा सकी जो वास्तव में देखने योग्य हो। पास के विक्टोरिया मेमोरियल को देखने मात्र से यह बात मालूम हो जाती है। नई दिल्ली तो एक मूर्तिमान कलंक है। भूखों मरते कृषकों को चूसकर एकत्र किये धन से कठपुतली राजाओं द्वारा बनवाये हुए पाश्चात्य प्रणाली के ग्राम्यभवन ('विला'), जिन्हें ग़लती से महल कह-कर पुकारा जाता है, विकृत आधुनिक रुचि का प्रदर्शन करते हैं। प्रत्येक वस्तु खर्चीली होते हुए भी भद्दी है।

इसलिए अगर हमें कोई महान् कार्य कर दिखाना है तो हमें पहली क्रान्ति से नाता तोड़ना और दूसरी क्रान्ति में अपने को डालना होगा। इधर राजनीति आगे आगई है और उसने हमारा ध्यान खींच लिया है। हमने मुग्धभाव से आशा की थी कि सरकारें मानवी दुख को बहुत थोड़े अंश

में बना और बिगाड़ सकती है; लेकिन हमें जल्द ही मालूम हो गया कि सरकार के रूप और गठन पर ही हमारे समाज की नींव का आधार है; और यह भी कि यदि हमारी संस्कृति को जीवित रहना और फलदायक होना है तो स्वतंत्र, देशी, राजनीतिक संस्थाओं की सहायता उसे मिलनी ही चाहिए। इसलिए यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक समस्या इतना ज़्यादा ध्यान खींचती।

राजनीतिक जागरण की आयु लगभग आधी सदी है। वह विदेशी स्फूर्ति से, विदेशी नमूनों पर शुरू हुआ, जिन्हें न हम समझते थे। न आत्मसात्—हज़म—कर सकते थे। परिणाम यह हुआ कि बड़े दिन की छुट्टियों में, जब उनकी अदालतें बन्द रहती थीं, चंद दिनों के लिए विद्वान् और महत्वाकांक्षी वकीलों की एक सालाना जमघट हो जाती थी। वे बर्क और शेरिडन के साँचे पर अपनी वक्तृत्व-पटुता प्रदर्शित करते और कभी अपने विदेशी प्रभुओं की, जिनकी सृष्टि वे थे, निन्दा करते, कभी प्रशंसा। वे कुछ प्रस्ताव पास करते और फिर अगले साल बड़े दिन में मिलने का निश्चय कर अपने स्थानों को लौट जाते। इनमें से कुछ जो ज़्यादा उत्साही थे और जिन्हें ज़्यादा फ़ुर्सत थी, खिलौनों—सी कौंसिलों में स्पीचें देते और अँग्रेज़ जन-मत के सामने अपने प्रभुओं को अपराधी क़रार देने के लिए तथ्यों और आँकड़ों का संग्रह करते थे। उन्हें बड़ी उम्मीद रहती थी कि यदि उनके बोलते हुए वाक्य कांग्रेस के परदे को भेद कर समुद्र के पार के लोकतंत्र तक पहुँच जायँ तो फिर सब कुछ ठीक हो जायगा। उदारदल के उन राजनीतिज्ञों के भाषणों से भ्रम में पड़कर, जो दल के कामों में प्रयुक्त अपने नारों के तार्किक निष्कर्षों को भी नहीं समझते थे, और वस्तुतः छद्मवेशी साम्राज्यवादी थे, हमारे नेता सोचते थे कि अभिलषित वस्तु को पाने के लिए उनका ज़ोर से और देर तक चिल्लाना ही काफ़ी है। ब्रिटिश लोकतंत्र और ब्रिटिश उदारवाद (लिबरलिज़्म) में उनकी बच्चों—सी श्रद्धा थी। कभी-कभी तो वह दयनीय मालूम पड़ती थी।

स्वभावत: इसकी प्रतिक्रिया हुई और काँग्रेस में एक राष्ट्रवादी दल पैदा हो गया। भिक्षा नीति का विरोध करके और सरकार की अधिक तेज़ और स्पष्ट निन्दा करके इस दल ने विशेषता प्राप्त कर ली। उसने सर्व-सामान्य जनता में जाने और एक कार्य-योजना का पालन करने की बातें कीं, यद्यपि उन्हें कभी कार्य रूप में परिणत नहीं किया। दोनों दल समान-रूप से महत्वपूर्ण थे। पर वे युवकों की बढ़ती हुई माँगें पूरी नहीं कर सकते थे, न बढ़ते हुए सामान्य असन्तोष को ही, जो निराशा की सीमा पर पहुँच चुका था, दूर कर पाते थे। युवकों की निराशा में बदले की, प्रतिहिंसा की आकांक्षा भी मिल गई। यह प्रतिहिंसा की भावना कुछ तो सब प्रकार की उचित राजनीतिक कार्रवाइयों के क्रूर दमन से पैदा हुई थी, और कुछ आतंकवादी प्रणालियों में विश्वास होने के कारण। परि-णाम स्वरूप आतंकवादी राष्ट्रवादियों—जिन्हें भ्रमवश एनारकिस्ट नाम से पुकारा गया—का एक गुप्त दल संघटित हो गया। एनार्किज़्म या अराज-कता वाद जीवन का एक तत्वज्ञान है जिसके साथ क्रोपाटकिन, टालस्टाय और थोरो—जैसे सम्मानित नाम जुड़े हुए हैं जिन्हें बमों और पिस्तौलों से कोई विशेष मतलब न था। लेकिन औसत नौकरशाह इस बात को बहुत कम समझता था और उसके सामने हत्या अथवा हत्या के प्रयत्न के अपराधी रूप में उपस्थित कथित अराजकतावादी की भी वही स्थिति थी। ये तीनों राजनीतिक टुकड़ियाँ राजनीतिक आन्दोलन के पाश्चमी नमूनों को मानती हैं,—पहली साफ़-साफ़ मानती और कहती है; इसके प्रतिकूल दूसरी दो तीव्र विरोध करते हुए स्वीकार करती हैं। पहली ने झुककर गुरु को प्रणिपात किया; दूसरी दो ने घोर शत्रुता के रूप में पश्चिम के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया। मानव मनोविज्ञान के अनु-कूल हिंदू धर्म शत्रुता और घृणा को भी पूजा—उपासना—का एक रूप और श्रेष्ठता के प्रति छूट ('कनसेशन') समझता है।

ये विदेशीपन से भरी बाढ़ें (विकास क्रियाएँ) ज्यादा दिन न चल सकती थीं। एक की प्रभावहीनता ने राष्ट्र को उत्तेजित कर दिया। और दूसरी

दो अपने विनाशात्मक कार्यक्रम के कारण राष्ट्रीय समस्या को हल करने में स्वयं अपनी असमर्थता तेज़ी से सिद्ध करते जा रहे हैं। उन्होंने अपना थोड़ा-सा काम कर दिया और आज विघटन की स्थिति में हैं। पर सौभाग्य-वश राजनीति में एक कहीं अधिक सच्चा राष्ट्रीय आन्दोलन चल पड़ा है। उसके दावों की किंचित् विस्तार से परीक्षा करना हमारे लिए उचित होगा। इस समय सब प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष तथा पूर्व-कल्पित विचारों को छोड़कर हम एक विद्यार्थी की भाँति बैठकर इस पर विचार करें।

राजनीतिक क्षेत्र में गांधी जी के आगमन के साथ भारत में राजनीतिक कार्य के उद्देश्यों, प्रयोजनों और साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। यद्यपि वह उन्हीं पुरानी संस्थाओं के ज़रिये काम करते हैं फिर भी हर एक चीज़ बदल जाती है। पहले राजनीति को शेष जीवन से अलग एक कार्य समझा जाता था। धर्म, नीति—सदाचार—और सामाजिक जीवन से वह कटकर अलग हो गई थी। अर्थनीति के साथ उसका नाम—मात्र का सम्बन्ध था। वह एक ऐसा विभाग बन गई थी जिसका शेष जीवन से अलग रहकर अध्ययन और अभ्यास किया जा सकता था। गांधी जी के लिए तो समग्र जीवन एक था, इसलिए राजनीतिक कार्य का सदाचरण—नीति—से, समाज-सुधार, अर्थनीति और सामान्य हितकर कार्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन सभी का प्रभाव और प्रतिक्रियाएँ एक-दूसरे पर होती थीं। कभी-कभी राजनीतिक कार्रवाई के लिए सामाजिक, नैतिक या आर्थिक सुधार पर बहुत ज़्यादा ज़ोर देना आवश्यक प्रतीत होता था। पहले समय में बंगाल, मद्रास या महाराष्ट्र के एक राष्ट्रवादी के लिए यह संभव था कि वह राजनीति में उग्र और सामाजिक मामलों में प्रतिगामी हो। इस प्रकार के विरोधाभास आज अतीत की वस्तु हो चुके हैं। पहले ज़माने में सिर से पैर तक नवीनतम विदेशी फैशन और पोशाक से सजे एक लिबरल के लिए कांग्रेस प्लेटफार्म पर खड़े होकर स्वदेशी का उपदेश देना सम्भव था। अपने पेट में चंद प्याले

उँडेलने के बाद भी उसके लिए प्रथम कोटि का नेता होना बिल्कुल संभव था। उसकी जीवन-विधि और कार्य राष्ट्रीय महासभा में उच्चतम पद पाने में बाधक नहीं थे। यह सब बदल गया है। गांधी जी की शिक्षाओं से हम समझ गये कि इस ब्रिटिश राज की अपनी कोई अन्तःशक्ति नहीं है बल्कि वह हमारी राष्ट्रीय और निजी दुर्बलताओं के ऊपर खड़ा है। यह हमारी कमज़ोरियों और पापों पर फलता-फूलता है। इसलिए उससे लड़ने का सबसे उम्दा तरीका यह है कि हम आत्म-शुद्धि और अपनी संस्थाओं में सुधार करें। स्वतंत्रता का आन्दोलन हमारी आत्म-सुधार की चेष्टा के साथ-साथ चलना चाहिए। हम अपनी स्वदेशी के लिए स्वराज की स्थापना और उसके फल-स्वरूप स्वदेशी चीज़ों की रक्षा के लिए विदेशी चीज़ों पर लगानेवाले कर की प्रतीक्षा करने न बैठेंगे। हम आज भी आत्मत्याग का ऐसा नियम अपने ऊपर लागू कर सकते हैं जो उद्योग-धन्धों के लिए सहायक हो सके। मादक द्रव्यहीन भारत के लिए हम शक्ति-परिवर्तन तक प्रतीक्षा न करेंगे बल्कि अपने उदाहरण और शान्तिमय पिकेटिंग से उसे उत्पन्न करेंगे। यही बात अस्पृश्यता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, राष्ट्रीय शिक्षा और ग्राम पंचायतों के बारे में कही जा सकती है। मोरियों की आवश्यक सफाई के लिए हम स्वराज्य के आगमन तक प्रतीक्षा न करेंगे। हमें तो अविलम्ब कार्य शुरू कर देना होगा और यह कार्य राष्ट्रीय जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में फैला होगा।

निश्चय ही कुछ लोग कहेंगे कि गांधी जी के पहले भी ये विचार थे। बंगाल और पूना के राष्ट्रवादियों के पुराने कार्यक्रम में इस तरह की कुछ बातें थीं। अन्वेषण के क्षेत्र में गांधी जी की प्राथमिकता सिद्ध करने से मुझे कोई सम्बन्ध नहीं। अगर मैं सिर्फ यह दिखा सकूँ कि वह जनता के सामने उसे कहीं ज़ोर के साथ लाये हैं और इस बात की चेष्टा की है कि हर क्षेत्र में कुछ संघटित रचनात्मक कार्य हो तो मेरी बात सिद्ध समझनी चाहिए। यदि राष्ट्र ने उनकी प्रणाली में कुछ अधिक श्रद्धा

प्रदर्शित की होती, उनकी अधिक सहायता की होती और ज़्यादा वफ़ादारी के साथ उनकी बातों का पालन किया होता तो पिछले दस वर्षों में जो कुछ संभव हो सका है उससे कहीं अधिक काम होता। पर जैसा है उसमें भी विशाल परिवर्तन हुए हैं। यह बात जैसी उन लोगों के सामने स्पष्ट होगी जिन्हें असहयोग आन्दोलन के पूर्व कोई गंभीर राजनीतिक काम करने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है वैसी नई पीढ़ी के लोगों के सामने स्पष्ट न होगी।

दूसरा परिवर्तन जो हुआ है, राजनीतिक आन्दोलन के उद्देश्यों के विषय में है। आज उद्देश्य शासनाधिकारियों में परिवर्तन करना नहीं है, केवल राजनीतिक सत्ता को हस्तान्तरित करना भी नहीं है, न केवल विदेशी को निकाल बाहर करना है बल्कि जनता द्वारा और जनता के लिए, जनता की सरकार क़ायम करना है। जनता से गांधी जी भूखे-नंगे, दलित दरिद्रनारायण का अर्थ लेते हैं—उन डूबे हुए और अस्पृश्यों का अर्थ लेते हैं जो हमें अपनी दृष्टि से हर जगह लज्जित करते हैं। जो आदमी गांधी जी या उनके आन्दोलन के साथ शामिल होते हैं उनको अपनी वाणी और आचरण से गरीबों के प्रति एकता प्रदर्शित करनी पड़ती है—उनके साथ एक होना पड़ता है; यह बात शाही मोतीलाल और लक्षाधिपति जमनालाल से लेकर मामूली स्वयंसेवक तक पर लागू होती है; हाँ, प्रत्येक को अपनी शक्ति और अपनी श्रद्धा के अनुसार वैसा आचरण करना पड़ता है। उन्होंने (गांधी जी ने) हमें सिखाया है कि जिनको नेतृत्व करना है उन्हें गरीबों की सेवा का व्रत लेना ही पड़ेगा और बिना अपवाद के, सब को गरीबों की पोशाक—खादी, पहननी पड़ेगी।

गांधीजी ने वाणी पर आचरण को महत्व दिया है, और अपने कठोर संयम के जीवन-द्वारा हम सबको आत्म-शुद्धि का पाठ सिखाया है। सच पूछें तो पहले कांग्रेस का कोई लक्ष्य—'क्रीड'—नहीं था। उन्होंने उसे एक लक्ष्य और कार्यक्रम दिया और अपने देश-बन्धुओं को दोनों के प्रति ईमानदार सैनिक होने का आह्वान किया। उन्होंने देश के राजनीतिक

जीवन के नैतिक धरातल को ऊँचा किया और आज राजनीतिक और निजी कार्य में आचरण के एक ही नियम लागू होते हैं। उनका आग्रह है कि राजनीतिक का वचन उतना ही विश्वसनीय होना चाहिए जितना एक साधु पुरुष का होता है। एक सार्वजनिक व्यक्ति को ऐसे वादे नहीं करने चाहिएँ जिन्हें वह कार्यरूप में परिवर्तित करने की इच्छा न रखता हो। उसे वह सब दुरंगी चालें छोड़ देनी चाहिएँ जो राजनीति में कूटनीति—'डिप्लोमैसी'—के नाम से पुकारी जाती हैं। गांधीजी इस भयानक नैतिक सिद्धान्त को नहीं मानते कि साध्य से साधनों का औचित्य सिद्ध होता है। उनकी राजनीति सत्य और अहिंसा पर आश्रित है। इन दोनों को उन्होंने प्रबल और जीवनमय बना दिया है। पर उनकी अहिंसा निष्क्रिय और भाव-प्रवणतावादी साधु के लिए नहीं है। यह एक कार्यशील सिद्धान्त—एक अमली उसूल है जो अपने को संघटित करने में विश्वास रखता है। यह बुराई के प्रति अप्रतिरोध का पुराना सिद्धान्त नहीं है बल्कि गहरे और अविचल प्रतिरोध का सिद्धान्त है। पर इस प्रतिरोध में किसी के शरीर या जीवन गँवाने की आवश्यकता नहीं है। यदि शरीर या जीवन खतरे में ही हों तो स्वयं सुधारक को बलिदान करना चाहिए।

इस प्रकार हमें सम्पूर्ण जीवन और मानवी सम्बन्धों को नियंत्रित करने वाले सिद्धान्तों पर आश्रित एक उपपत्ति—'थियरी'—प्राप्त हुई है; चट्टानों की भाँति पुरानी पर उतनी ही नई और ताज़ी जितना केवल सत्य हो सकता है। हम लोग देववाणी को कार्य में और उपपत्ति—'थियरी'—को अमल में एक साथ देखते हैं। हमें न केवल एक धारणा (idea) प्राप्त हुई है बल्कि धारणा स्वयं एक व्यक्ति में मूर्त या अवतरित हो गई है। किसी व्यक्तित्व, ('परसनैलिटी') की चेतन शक्ति से हीन धारणा उतनी ही रिक्त होगी जितना किसी सिद्धान्त के अनुसार न चलने वाला आदमी निष्फल—अनुत्पादक होता है। जब धारणाएँ अवतार लेती हैं और उपयुक्त व्यक्तियों के रूप में जन्म लेती हैं तभी मानवी मामलों

में वे प्रभावोत्पादक होती हैं; जब तक वे इस प्रकार जन्म नहीं लेतीं तब तक सिर्फ़ तार्किक मस्तिष्क को सन्तुष्ट करने वाली उपपत्तियां या सिद्धान्तों के रूप में रहती हैं और तब तक विश्वास, श्रद्धा और संकल्प पैदा करने में असमर्थ होती हैं। यदि बोल्शेविज़म लेनिन-जैसे एक जीवन्त और व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में अवतारित न होता तो वह सिर्फ़ एक मार्किस्ट उपपत्ति मात्र बनकर रह जाता और रूस-जैसे एक महाद्वीप को सजीव न बना पाता बल्कि दुनिया के लिए एक भय बन जाता। गांधी-जैसे महत् नैतिक और आध्यत्मिक व्यक्ति के व्यावहारिक विवेक और उच्च साहस से हीन होकर सत्य और अहिंसा छूछे सिद्धान्त मात्र रह जाते या ज़्यादा से ज़्यादा वन्य कुटीरों में, अथवा सुन्दर और लच्छेदार वाक्यों में अपनी कायरता छिपाने के लिए दुर्बलों-द्वारा उनका प्रयोग होता।

—छात्र सम्मेलन, कलकत्ता के सामने दिये गये भाषण का सारांश। अक्टूबर, १६३१]

: ८ :

अहिंसक क्रान्ति

—१—

समस्या

व्यक्ति और समूह

मानव सभ्यता आज एक विचित्र और जटिल दृश्य उपस्थित करती है। एक तरफ़ तो पहले (सदा) से ज़्यादा सभ्यता, न्याय, सहानुभूति, प्रेम और उदारता दिखाई पड़ती है; दूसरी ओर ज़्यादा और बढ़ता हुआ सन्देह, अविश्वास, विरोध, अन्याय, क्रूरता और घृणा का राज्य है। जो कार्य और घटनाएँ पूर्व पीढ़ियों को ठंडी और उदासीन छोड़ जाती थीं, वर्तमान पीढ़ी को ज़ोरों के साथ प्रभावित करती हैं। पहले ज़माने में अभागों को जो सहानुभूति और सहायता नहीं मिल पाती थी वह आज उन्हें प्राप्य है। आज हमारे पास रोगियों के लिए अस्पताल, कोढ़ियों के लिए निवासगृह, अन्धों-गूँगों-बहिरों के लिए स्कूल हैं। जहाँ तक संभव है, हम प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओं के निराकरण का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि युद्ध में भी अपनी समस्त घृणा के साथ जब हम घायल करते हैं तब रेड-क्रास की सहायता भी प्रस्तुत करते हैं। बच्चों और विधवाओं की आवश्यकताओं की ओर जिस प्रकार ध्यान दिया जा रहा है, वैसा पहले कभी नहीं दिया जाता था। वृद्ध, असमर्थ या पंगु, रोगी, बेकार और अभागों को समर्थन और सहायता प्राप्त होती है। हम पर उनका दावा है। संसार के किसी भी हिस्से में मनुष्यों पर जो आपदाएँ आती हैं समस्त सभ्य मानवता उसका अनुभव करती है। वर्ण, जाति,

मज़हब या दूरी का अतिक्रमण कर सारी दुनिया आज पड़ोसी हो गई है। अकाल, बाढ़ या भूकम्प आने पर मनुष्य के कष्टों को दूर करने के लिए संसार के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक लोग शक्ति भर दान या सहायता करते हैं। एक दूसरे के प्रति हमारे व्यवहार में पहले से ज़्यादा स्पष्टता, ज़्यादा शिष्टता और ज़्यादा प्रसन्नता दिखाई देती है। रास्ते का धम्मी-घुस्सा और शराबीपन धीरे-धीरे खत्म सा हो गया है; निजी झगड़े भी कम हो गये हैं। चोरी, आगज़नी और हत्या सभ्य समाज में अपवाद हैं, सामान्य नियम नहीं। दासप्रथा और गुलामी खोज के विषय मात्र रह गये हैं। सार्वजनिक उपयोगिता और संघटित परोपकार के कार्य सर्वत्र आरंभ हो गये हैं। ज्ञान में वृद्धि हो रही है और उसका क्षेत्र निरन्तर विस्तृत और गहरा होता जा रहा है। वाचनालय, पुस्तकालय, संग्रहालय—म्यूज़ियम—सिनेमा और रेडियो निरन्तर ज्ञान की सीमा को बढ़ाते जा रहे हैं। कलाकारों, कवियों और साहित्यकारों को अभूतपूर्व संरक्षण मिल रहा है। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष के खेल और आनन्द भी पहले से अधिक अच्छी तरह संगठित और व्यवस्थित हैं। मानवता आज शरीर से अधिक स्वच्छ और रोगों की कम शिकार है। जीवन की औसत मर्यादा—आयु—बढ़ाने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। बाल-मृत्यु में आश्चर्यजनक रूप से कमी हो गई है। रोग में मानवी कष्ट और व्यथा के निराकरण के उपाय हो रहे हैं। इस सामान्य आनन्द और परिष्कार में पशुओं का भी स्थान हो गया है। मनुष्य पक्षियों और जानवरों के प्रति अधिक सदय है। पशुओं के प्रति की जानेवाली निर्दयता दूर करने के लिए अनेक संस्थाएँ खुल गई हैं। सभ्य देशों में विविध प्रकार से जीवन अधिक सरल और परिष्कृत तथा अपेक्षाकृत कम कठोर और कम पाशविक बन गया है। इन सब बातों से केवल ईर्ष्यालु निराशावादी या धर्मान्ध कट्टरतावादी ही इन्कार कर सकता है।

पर ज्योंही हम व्यक्ति और सामाजिक क्षेत्र को छोड़कर अन्तर्सामूहिक, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की ओर देखते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि समाज

ने कोई प्रगति नहीं की है, बल्कि कई बातों में वह पीछे चला गया है। सामूहिक जीवन आज जंगल के क़ानून के सिवा और कोई क़ानून नहीं मानता। आधुनिक आविष्कारों के द्वारा दूरी का निराकरण हो जाने के बाद भी एक समूह या दल (ग्रुप) दूसरे से आज उससे कहीं ज्यादा वास्तविक और विस्तृत घृणा करता है जितना पहले कभी करता था। एक दूसरे के साथ उनके व्यवहार में स्वार्थ, विद्वेष, सन्देह और अविश्वास का प्राधान्य है। जहाँ तक व्यक्तियों का सम्बन्ध है यद्यपि मानव-कल्याण और जीवन पर पहले से अधिक ध्यान दिया जाता है साम्प्रादायिक, आर्थिक, जातीय या राष्ट्रीय समूहों का सवाल आता है तब मानव भ्रातृत्व और सुख की सब धारणाएँ भुला दी जाती हैं और मानव जीवन की कोई क़ीमत नहीं रहती। समूहों के बीच और विशेषतः राष्ट्र नामधारी समूहों के बीच सदाचरण, सज्जनों की आचार-नीति के दर्शन नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे घृणाजनक पाखण्ड से पूर्ण हैं जिनसे आज कोई धोका नहीं खा सकता। असत्य, यहाँ तक कि खुली बेईमानी की राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार पर गहरी छाप है। जासूसी, धोखा, झूठ और द्वेषपूर्ण प्रचार को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक उचित, संगत अस्त्रों के रूप में अपनाया जाता है। रिश्वत, झाँसा-पट्टी, धोका, हिंसा, चोरी, आगजनी और हत्या सभी का सामूहिक सम्बन्धों में अपना स्थान—महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव जीवन की कोई क़ीमत नहीं है। राजनीतिज्ञों-द्वारा आदमी ऐसे साध्यों की पूर्ति में तोपों की खुराक बना लिये जाते हैं जो खुद उन्हीं के सामने स्पष्ट नहीं होते। आर्थिक जीवन शोषण से भरा है। प्रत्येक दल या समूह ऐसे लाभ या सुविधाएँ चाहता है जिनकी क़ीमत देने को तैयार नहीं। अन्तर्सामूहिक सम्बन्धों में अहंकार, उद्दण्डता तथा जाति एवं वर्ण—द्वेष का बोलबाला है। यद्यपि युद्ध अब पहले से कम होते हैं पर वे पहले से अधिक भयानक और क्रूर हो गये हैं। उनके सामने कुछ भी पवित्र नहीं, कुछ भी सुरक्षित नहीं। पुजारी और भक्त, कलाकार और साहित्यकार, वैज्ञानिक और तत्त्वज्ञानी, कारीगर और किसान सब को

निर्दयतापूर्वक खाइयों और मोर्चों की ओर धकेल दिया जाता है। आगे बढ़ते हुए विज्ञान और मानव विकृति ने विनाश के जितने भी अस्त्रों का आविष्कार किया है उन सब का प्रयोग काल्पनिक झगड़ों के निबटारे के लिए किया जाता है। तोप, टैंक, हवाई जहाज, पनडुब्बी सब उचित—वैध—अस्त्र हैं। शिशु, नारी, उदासीन, सिविल अधिवासी, असैनिक सभी विनष्ट कर दिये जाते हैं। इससे भी बुरा यह होता है कि ये बम, जहरीली गैस या गोलाबारी द्वारा पंगु और अपाहिज बना दिये जाते हैं। अन्तर्सामूहिक सम्बन्धों में न्याय भी नहीं रह गया है, उदारता और दया की तो बात ही क्या? सदाचार या नीति के किसी नियम का कभी पालन नहीं किया जाता। यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराएँ होती भी हैं तो वास्तविक संघर्ष के बीच कभी उनका पालन नहीं किया जाता। ये सब ऐसे तथ्य हैं जिन्हें मानवजाति की प्रगति के परम आशावादी समर्थक भी इन्कार नहीं कर सकते।

यह सब क्यों है? मानव जीवन क्यों इतना सदय और साथ ही इतना पाशविक है? वह क्यों इतना आकर्षक और साथ ही इतना घृणित है—भद्दा—है? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर से ही समाज-सुधारक को उसके निवारण के उपाय सूझ सकते हैं।

दोरंगी सदाचार-नीति

हमें ऐसा जान पड़ता है कि व्यक्ति और समूह के आचरण के बीच यह जो खाई आ गई है उसका कारण यह तथ्य है कि मानवता ने शताब्दियों से दो प्रकार के नैतिक मूल्यों को न केवल सहन किया है बल्कि उन्हें मान लिया है। जो बात व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में अच्छी समझी जाती है वही समूहों के बीच व्यवहार में बुरी मानी जाती है। निजी जीवन में हम सदाचरण और परम्परा के नियमों से बँधे हुए हैं परन्तु समूह-जीवन में ऐसी कोई बाध्य करनेवाली आवश्यकता नहीं है। अगर कोई राजनीतिज्ञ और राष्ट्र का प्रतिनिधि बनकर दूसरे देश को जाता है तो उसके आचरण में असत्य और बेईमानी भरी होती है। वह अपने राष्ट्र या राज्य के वास्तविक या काल्पनिक हित की वृद्धि के लिए कोई भी तरीका या

किसी प्रकार के एजेंट इस्तेमाल कर सकता है। गोपनीयता, वंचना और धोखा उसके आचरण के प्रधान अंग होते हैं। एक झूठे और धूर्त के लिए किसी अच्छे समाज में कोई स्थान नहीं होता; पर राजनीतिक क्षेत्र में, विशेषत: अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, ऐसे ही लोगों का सम्मान किया जाता है। वे राष्ट्र की कौंसिलों में ऊँचे स्थान प्राप्त करते हैं। एक व्यक्ति जो अपने पड़ोसी की कानून-सम्मत जायदाद छीन या ले लेता है, चोर कहलाता है। लेकिन जो सेनापति पड़ोस के देश पर सफल आक्रमण करता है, वीर नायक का सम्मान प्राप्त करता है। अगर कोई आदमी गरीबी या भूख को न सह सकने के कारण चोरी कर लेता है तो भी वह जेल भेज दिया जाता है पर राष्ट्रीय पैमाने पर चोरी करने वाले चोर को इतिहास में स्थान देने योग्य समझा जाता है। आदमी की ज़िंदगी का अन्त करने के कारण, ठीक ही, खूनी को फाँसी दी जाती है, लेकिन सामूहिक हत्याएँ करने वालों के लिए कोई सज़ा नहीं है। बल्कि बड़े पैमाने पर क़त्ल करने वालों के लिए विजय-मुकुट और विजय की स्वागत-यात्राएँ सुरक्षित हैं। व्यक्तिगत, जीवन में नम्र, सरल और क्षमाशील स्वभाव को हम पसन्द करते हैं किन्तु राजनीतिक जीवन में बात इसके ठीक उलटी है। सफल राजनीतिज्ञ के अभिमानी, प्रतिहिंसक और आक्रामक होने की आशा की जाती है। व्यक्तियों का अधिकार, बल्कि कर्त्तव्य, है कि अपने पड़ोसी के लिए अपने निजी हितों का बलिदान करें किन्तु यदि कोई समूह या राष्ट्र ऐसे उपकारी गुणों का आचरण करे तो वह राष्ट्र न केवल नष्ट कर दिया जायगा बल्कि मूर्ख भी समझा जायगा। यदि कोई आदमी इतना भ्रष्ट या कुमार्गी हो जाय कि अपराधी की जगह निर्दोष लोगों को पीड़ा देने लगे तो वह समाज-विरोधी, पैशाचिक, उत्पीड़क और मानवस्तर से हीन समझा जायगा पर यदि एक पुलिस या सैनिक अफसर किसी समूह, जाति या राष्ट्र को कुछ व्यक्तियों की यथार्थ वा कल्पित गलतियों के लिए आतंकित करे तो वैसे अफसर को कुशल शासनकर्त्ता और मनुष्यों का शक्तिमान नेता माना जायगा। कोई समाज,

चाहे कितना ही संस्कृत और परिष्कृत हो, आतंककारी बमवर्षक या आक्रामक के लिए अपने दरवाज़े नहीं बन्द कर सकता। अगर ऐसे समाज-द्रोही व्यक्ति अपने-अपने मज़हब के परम्परागत आचारों का पालन करते हैं तो उनका विभाजन अच्छे मुसलमानों, अच्छे हिन्दुओं और ईसाइयों के रूप में किया जाता है। जो कुछ भी व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण में ठीक, उचित और नैतिक समझा जाता है, समूह—सम्बन्धों में ग़लत, बुरा और अनैतिक हो जाता है। मानव कर्म के एक क्षेत्र में जिसको प्रशंसनीय समझा जाता है उसकी दूसरे क्षेत्र में निन्दा की जाती है। मानवता अविरोधभाव से प्रतिदिन राजनीतिज्ञों और राजमंत्रियों-द्वारा निर्लज्ज झूठी बातें कहने का दृश्य देखती है—ऐसी झूठी बातें जो लोगों को धोका देने में असमर्थ रहती हैं। फिर भी ये सब झूठे और प्रवंचक सरकारी अधिकारी सम्मान्य समझे जाते हैं। उनमें से कुछ धर्मात्मा और ईश्वर से डरनेवाले व्यक्ति होने की प्रसिद्धि का भी मज़ा लूटते हैं। व्यक्तिगत जीवन में बुद्ध या ईसा के नियम और समूह-जीवन में मूसा के बल्कि उससे भी गये-गुज़रे नियम! सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन का तो सदाचरण से बहुत ही कम सम्पर्क हुआ मालूम पड़ता है। इस क्षेत्र में केवल सफलता का महत्त्व है। व्यक्तिगत और समूह-सम्बन्धी सदाचरण में—नीति में—चौड़ी और न भरने वाली खाई आ पड़ी है।

यह दोरंगी सदाचार-नीति और दो प्रकार के मूल्यों को रखकर मानवता व्यक्ति और समूह, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के बीच के सेन्द्रिय अन्तर्सम्बन्ध को समझने में असफल रही है। समूह (ग्रुप) के बिना व्यक्ति कुछ नहीं है; और कोई समूह व्यक्ति के अलावा और किसी के ज़रिये चल नहीं सकता। अगर समूह—व्यवहार जंगली और हिंसक है तो उसका प्रतिकूल प्रभाव व्यक्ति के सामाजिक जीवन और सामान्य सदाचार-नीति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। मानवता वस्तुतः तभी सभ्य बन सकती है, जब उसके दोनों पहलू, व्यक्ति एवं समूह या सामाजिक एवं राजनीतिक पहलू, सभ्य हों। नैतिक (सदाचारी) व्यक्ति और अनैतिक

समाज अधिक समय तक लाभदायक रूप में साथ नहीं चल सकते। व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति के साथ-साथ यदि समूहगत और राजनीतिक प्रतिगामिता चलती रहेगी तो स्थायी उन्नति के लिए आवश्यक सन्तुलन नष्ट हो जायगा।

ऐतिहासिक उदाहरण

ऐसे ऐतिहासिक उदाहरण हैं कि जब और जहाँ इस अन्तर्सम्बन्ध को पहचाना या कार्यान्वित नहीं किया गया तहाँ समाज को पिछड़ जाना पड़ा है। भारतीय इतिहास से कुछ प्रासंगिक उदाहरण देकर मैं इस बात को प्रदर्शित करूँगा। भारतीय लोग, विशेषतः उच्चतर वर्गों के लोग, सामान्यतः व्यक्तिगत रूप से स्वच्छ रहते हैं। वे निरन्तर प्रक्षालन और दैनिक स्नान करते हैं। अधिकांश प्रतिदिन कपड़े बदलते हैं। उनके घर, रसोई के कमरे, भण्डार, बर्तन—भाँड़े प्रायः बहुत साफ़ होते हैं। फिर इतना होने पर भी क्यों भारत में स्वच्छता का मानदण्ड—स्टैंडर्ड—बहुत नीचा है। इसलिए कि निजी स्वच्छता का ख्याल रखते हुए भी हम उसके सामूहिक प्रत्यंग की उपेक्षा करते हैं। ग्राम सड़क, गाँव, क़स्बा और नगर से मानो हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। उनके प्रति किसी का ध्यान नहीं है। हम भोलेपन के साथ सोचते हैं कि अपने व्यक्तिगत जीवन से मैल या धूल हटाकर हम उससे बच सकते हैं। परन्तु समूह (ग्रुप) का व्यक्ति से कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि जो कूड़ा हम इतनी असावधानी के साथ अपने दरवाज़ों से बाहर फेंक देते हैं, मक्खियों, मच्छरों, मलेरिया तथा अन्य रोगों के रूप में हमारे पास लौट आता है। कितनी ही बार ऐसा होता है कि सड़क या गलियों से आदमी चला जा रहा है कि ऊपर की मंज़िलों में बैठी हुई मधुरस्वभाव की महिलाएँ वा सज्जन गन्दा पानी, या कभी-कभी उससे भी ठोस कोई चीज़, लापरवाही से नीचे फेंक देते हैं और राह चलने वाले के कपड़े ख़राब हो जाते हैं। ये स्त्री-पुरुष अपने शरीर को स्वच्छ करने के लिए प्रतिदिन एकाधिक बार स्नान करते हैं। पर उनके ख्याल में मानो समाज का कोई अधिकार

ही नहीं; उनके लिए बस व्यक्ति की ही गणना और महत्त्व है। ऐसा आदमी समूह के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं समझता। इसका परिणाम व्यक्ति और समूह दोनों के लिए भयानक हुआ है।

हमारे पूर्वज ज्ञान को पवित्र रखना चाहते थे। वे अयोग्य, अनधिकारी को ज्ञान नहीं देते थे। उन्होंने उसे ऊपर के दो वर्गों तक सीमित रखा। सदियों के बाद इसका क्या परिणाम हुआ है? वेदों, शास्त्रों तथा तत्वज्ञान की उन अनेक प्रणालियों के बावजूद, जिन्हें एक दिन हमने जन्म दिया था, आज शायद शिक्षा की दृष्टि से हम संसार में सबसे पिछड़े हुए हैं। हिन्दू वेद की शपथ लेते हैं पर उनमें से कितनों ने इन ग्रंथों को, जिनके बारे में कहा जाता है कि उनमें समस्त भूत और भावी ज्ञान संग्रथित है, देखा भी है? जिस अन्धकार में हम अपने देश के कुछ वर्गों को रखना चाहते थे उसने सबको, जिसमें इस अदूरदर्शितापूर्ण नीति के प्रणेता भी हैं, घेर लिया है।

हम अछूतों की एक जाति पैदा करके अपने को ऊँचा और शुद्ध रखना चाहते थे। आज भारतीय, ऊँच हो या नीच, न केवल विदेशों में बल्कि अपनी जन्मभूमि में भी अछूत है। असल ब्राह्मण, क्षत्रिय, यहाँ तक कि असल वैश्य भी अँग्रेज है। भारतीय तो हिमालय और गंगा के अपने ही देश में जाति-बहिष्कृत है। हमने जो किया उसी का बदला पा रहे हैं। इस नैतिक विश्व में प्रकृति व्यक्ति अथवा समूह की हर एक लापरवाही का बदला ले लेती है क्योंकि इस प्रकार के कार्यों से उसका सन्तुलन नष्ट हो जाता है।

व्यक्ति और समूह एक दूसरे के साथ बँधे हुए हैं। वे एक ही मानवता के दो पहलू हैं। यदि एक आगे बढ़ जाता और दूसरा पीछे छूट जाता है तो सन्तुलन बिगड़ जाता है और अन्त में दोनों की हानि होती है। समस्त संसार के चिन्ताशील—विवेकी—मनुष्यों को यह यथार्थ भय है कि अगर मानवता ने समूह-सम्बन्धों की समस्या हल नहीं की, यदि उसने समूह जीवन को नियंत्रित और नीतियुक्त नहीं बनाया तो सभ्यता ने

आज तक जो प्रगति की है उसे प्रकृति पीछे घसीटकर छीन लेगी और मानवता पुनः उसी पाशविक स्थिति में जा पड़ेगी जहाँ से वह उठी या आगे बढ़ी थी। चंद और विश्व-युद्ध समस्त मानव जाति को बर्बरता की दशा में डाल देंगे।

तब यह सवाल उठता है कि जो समूह-जीवन हमारी, सदियों में कड़ी मेहनत से प्राप्त की हुई, बौद्धिक और नैतिक विजयों को नष्ट करने पर तुला हुआ है उसे किस तरह नियंत्रित किया जाय और नीतियुक्त बनाया जाय? क्या कोई रास्ता है? अगर है तो वह क्या है? आइए, देखें कि समाजप्रिय व्यक्ति की प्रगति का इतिहास इस समस्या की कोई कुंजी हमारे सामने पेश करता है?

अहिंसा की ओर

—२—

नियम

मानव व्यक्ति ने सभ्यता के पैमाने में कैसे उन्नति की? उसने किन उपायों, किन साधनों का सहारा लिया? एक ज़माना था,—यद्यपि सब जातियों के जीवन में वह एक साथ नहीं आया—जब आदमी प्रकृति की गोद में रहता था, जैसे जानवर रहते हैं। वह सब के विरुद्ध हर एक के निरन्तर, कभी न बन्द होने वाले, युद्ध का ज़माना था। जानवरों की प्रकृति की भाँति मानव-प्रकृति भी प्रतिहिंसा से पूर्ण थी। अपने दैहिक अर्थ में 'सबसे समर्थ की अस्तित्व—रक्षा' (Survival of the fittest) का कानून स्वच्छन्द एवं पूर्ण रीति से प्रचलित था। यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। यदि यह बहुत ज़्यादा दिनों

तक चलती रहती तो मानव-जाति का लोप हो गया होता। पर मानवता जीती रह सकी क्योंकि युद्ध और हिंसा के नियम के स्थान पर उसने कुछ और ही नियम खोज निकाला। वह कौन सी संयोगाकर्षण शक्ति थी जिसने स्त्री-पुरुषों को कुटुम्बों, कुनबों, टुकड़ियों और राष्ट्रों के रूप में संयुक्त कर दिया? निषेधात्मक शब्द इस्तेमाल करना चाहें तो वह अहिंसा थी; विधायक शब्द इस्तेमाल करना चाहें तो वह प्रेम का नियम था, जो शान्ति और सहयोग की ओर प्रेरित करता था। न केवल वे संघटन और समूह जो मनुष्य ने बनाये और उनका विकास किया बल्कि सम्पूर्ण मानव-संस्थाएँ क्रमशः हिंसा और युद्ध की अवस्था पार कर सहयोग और अहिंसा की अवस्था तक पहुँची हैं। अपनी बात समझाने के लिए कुछ उदाहरण लेंगे।

कुटुम्ब:—पहली और सब से पुरानी संस्था, जिसके कारण निरन्तर मानव जीवन संभव हुआ, कुटुम्ब है। इसके सम्पूर्ण विविध सम्बन्ध धीरे-धीरे बराबर अहिंसक बनते और हिंसा का त्याग करते जा रहे हैं। आरम्भ में कुटुम्ब के मुखिया को सब स्त्री-पुरुष सदस्यों पर पूर्णाधिकार प्राप्त था। पत्नी पति की जायदाद थी; बच्चों पर पिता का पूर्णाधिकार था। वह उनके शरीर और जीवन का मालिक था। प्रारंभ में वह अंग-भंग करके या जीवन लेकर नहीं बल्कि, ज़रूरत के समय, अपनी मिल्कियत का अन्य चीजों की तरह उन्हें बेचकर, अपने इस अधिकार का प्रयोग करता था। इसके बाद वह युग आया जब बेचना बन्द हो गया। अब वह आज्ञा-भंग पर या नाराज़ होने पर मार-पीट के रूप में उसको दण्ड देने लगा। राज्य को भी कोई अधिकार न था कि वह कुटुम्ब में उसके मार-पीट करने के अधिकार में दस्तंदाज़ी करे। अपने प्रभुत्व की प्रत्येक काल्पनिक अवज्ञा आवश्यक दण्ड के रूप में सामने आती थी। इसमें शक नहीं कि अवज्ञा, विरोध या अभिभावकों की अप्रसन्नता के अनुसार दण्ड की भी अलग-अलग श्रेणियाँ थीं। आज भी कौटुम्बिक सम्बन्धों में शारीरिक दण्ड की प्रथा चली जा रही है पर

प्रत्येक सभ्य राज्य आत्यन्तिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार का दावा करता है। बालिग स्त्री-पुरुष कमोबेश आज़ाद हैं। अब बच्चों के अधिकार भी माने जाने लगे हैं। निर्दय व्यवहार करने पर आधुनिक राज्य अभिभावकों के प्रभुत्व में हस्तक्षेप करता है।

विवाह:—विवाह-संस्था में भी अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। स्त्रियों की चोरी, छीनाझपटी और झुण्ड की झुण्ड भगा ले जाना एक ज़माने में उत्तम विवाह—विधि समझी जाती थी जिन्हें परम्पराओं की स्वीकृति प्राप्त थी। आश्चर्य तो यह है कि इस विचित्र रीति से प्राप्त बहुएँ हिंसा की दयनीय शिकार नहीं हुआ करती थीं। अगर ज़्यादा नहीं तो उन विवाहों में भी उतना 'रोमांस'—प्रेम, आकर्षण आदि तो होता ही था जितना आज के विवाह में है, जब कि उसने दो स्वतंत्र और समान वयप्राप्त व्यक्तियों के बीच मुक्त व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। अब भी आदर्श तक, लक्ष्य तक पहुँचना बाकी है। माता-पिता की हिंसा, जाति, धर्म और वर्ण—रंग—का विद्वेष आज भी स्त्री-पुरुष के बीच के इस अत्यन्त नाज़ुक सम्बन्ध को दबाये हुए है! यद्यपि अब उसका दबाव बहुत सूक्ष्म रूप धारण कर चुका है। आज उन्नत देशों में विवाह न केवल अपेक्षाकृत बन्धनमुक्त हो गया है बल्कि मध्ययुग के एक दूसरे को रिझाने की क्रिया से सम्बन्धित चतुराईपूर्ण असत्यों का स्थान उनके प्रेम के मुक्त और स्पष्ट आश्वासन ने ले लिया है। छल, आडम्बर और नखरे धीरे-धीरे असम्मानित होते जा रहे हैं।

विवाहानन्तर प्रवृत्ति प्रगतिशील समानता की ओर है। आर्थिक अयोग्यताएँ तक लुप्त होती जा रही हैं। उस ज़माने से समाज आज कितना आगे बढ़ गया है जब किसी लम्बी अनुपस्थिति के बाद पति अपनी पत्नी का स्वागत परम्परागत डंडे या मारपीट से करता था और जब उसके ऐसा न करने पर पत्नी समझती थी कि उनके मधुर पारस्परिक सम्बन्ध में कुछ उदासीनता आ गई है! क्या कोई आधुनिका इस पर

विश्वास करेगी कि जाति के इतिहास में कुछ ही सदियों पहले ऐसे सम्बन्ध विवाहित जीवन को मधुर बनाते थे ?

शिशु-संवर्द्धन :—पुराने जमाने के लोग यह विश्वास नहीं कर सकते थे कि बच्चों को कुलीनता और शिक्षा लात-घूँसे के बिना भी दी जा सकती है। 'डंडा दूर रखा कि लड़का बिगड़ा' यह शिक्षा का पवित्र सूत्र था। आज भी मानवता पर से इसका प्रभाव एकदम दूर तो नहीं हो सका है पर धीरे-धीरे यह अनुभव किया जा रहा है कि चाबुक और डंडे जानवरों की सीख के भी सर्वोत्तम साधन नहीं हैं। आज तो यथासंभव धमकी और कठोर भाषा के प्रयोग से भी बचने की चेष्टा की जाती है। बच्चे सजग हो रहे हैं। उनके जीवन में प्रकाश और हास्य का प्रवेश किया जा रहा है। उनके प्रति सावधानी और सम्मान का व्यवहार अब किया जाता है।

एक जमाना वह था कि बच्चे की प्रत्येक जिज्ञासा, उत्सुकता थप्पड़ से सन्तुष्ट की जाती थी। बच्चे के असुविधाजनक प्रश्नों और उत्सुकता को शान्त करने के लिए सभ्य अभिभावक भी असत्य और प्रवंचना का आश्रय लेते थे। आज शिशुओं के संवर्द्धन में अच्छे स्कूलों तथा सभ्य और सुसंस्कृत घरों में न केवल डंडे बल्कि असत्य और प्रवंचना का भी त्याग कर दिया गया है—या किया जा रहा है।

सभ्य बालक का मनोविज्ञान ही बदल गया है। जहाँ उसकी पूर्व पीढ़ी डंडे के सहारे कुलीनता, ज्ञान और धार्मिक शिक्षण प्राप्त करती थी तहाँ आज वह इस प्रकार शिक्षित होने से इन्कार करता है। इसके पूर्व कि वह अपनी संभावनाएँ प्रकट करना स्वीकार करे वह अपने साथ सावधानी और सम्मान का व्यवहार चाहता है। यदि अनुचित दबाव डाला जाता है तो उसके अन्दर विचित्र जटिलताएँ पैदा हो जाती हैं और वह स्नायुरोगी और अत्यन्त उत्तेजनशील बन जा सकता है।

धर्म :—पशु-बलि, मनुष्य-बलि, जबरदस्ती मत-परिवर्तन और कत्लेआम से इसका आरंभ हुआ। इसके नाम पर संसार के विस्तृत

भूखण्डों तक विस्तृत भयंकर युद्ध होते थे। आज बहुत पिछड़ी हुई जातियों को छोड़ कर शेष सभ्य जगत् में यह मान लिया गया है कि हिंसा और ज़बरदस्ती से धर्म-विश्वास का परिवर्तन नहीं हो सकता, न हृदय बदले जा सकते हैं। इसलिए धर्म-प्रसार के कार्य में सूक्ष्म रिश्वत, चंटतापूर्ण प्रचार, शैक्षणिक और सामाजिक सेवा के नये साधनों का उपयोग किया जाता है। पर इस प्रच्छन्न हिंसा की भी निन्दा की जाती है क्योंकि आध्यात्मिक धर्म-परिवर्तन के लिए यह दुनियावी पुरस्कारों की व्यवस्था करता है। जो मिशनरी प्रवंचना और सूक्ष्म हिंसा के ऐसे साधनों का उपयोग करते हैं उनकी प्रशंसा नहीं की जाती। उनके अभिप्राय पर सन्देह किया जाता है। ऐसे लोग आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा संख्या की, जो उन्हें सत्ता प्रदान करती है, अधिक परवा करते हैं। धीरे-धीरे अब धर्म को व्यक्ति का निजी मामला स्वीकार किया जाने लगा है। सच्चा धर्म-परिवर्तन वह है जिसमें सत्य की खोज में लगे उपासक के हृदय का परिवर्तन हो। आध्यात्मिक भावनाशील लोग इसका ज़रा भी अतिक्रमण होने को हिंसा में गिनते हैं।

व्यापार:—यह लूट, चोरी और जलदस्युता से आरंभ हुआ। बहुत ज़माना नहीं गुज़रा जब पश्चिम में पृथ्वी और समुद्र पर छापा मारने के लिए वहाँ की विभिन्न सरकारों-द्वारा व्यवसाय-संघों का निर्माण होता था और उन्हें सनदें दी जाती थीं। उतना ही व्यापार वे जानते थे। एलिज़बेथ के समय के इंग्लैण्ड में यह एक अच्छा व्यापार समझा जाता था कि स्पेन के जहाज़ अमेरिका से जो बहुमूल्य सामग्री लाते थे उन पर समुद्री डाकुओं के रूप में छापा मारा जाय। और यह माल स्पेनी लोग खुद भी इसी प्रकार की व्यापारिक लूट में प्राप्त कर लाते थे। हबशियों को उनके देश से ज़बरदस्ती भगा लाकर अमेरिकन कृषिक्षेत्रों या बाग़ों में उन्हें गुलामों के रूप में बेचना अँग्रेज़ों का बड़ा लाभजनक व्यवसाय था। वे मानव-मांस के इस व्यवसाय के अपने एकाधिकार को उस समय इतना उचित और न्यायपूर्ण समझते थे कि उसके लिए अन्त तक लड़ने को

तैयार हो सकते थे। आज ये सब बातें लुप्त हो गई हैं। यह ठीक है कि व्यापार और उद्योग अभी तक धोखाधड़ी और हिंसा के सूक्ष्म रूपों से मुक्त नहीं हैं किन्तु जो प्रगति हुई है वह बहुत अधिक है। एक व्यापारी के शब्द का लिखित वादे ('बांड') की भाँति ही सम्मान किया जाता है। धोखाधड़ी तो सदैव संभव है, फिर भी सामान्य व्यापारिक सम्बन्धों में दोनों पक्षों के लाभ की भावना रहती है। नमूने के अनुसार माल भेजा जाता है; धीरे-धीरे निश्चित एवं स्थिर मूल्यों का चलन बढ़ रहा है। मानवता के इस प्रमुख स्वार्थपूर्ण कार्य से बेईमानी और धोखाधड़ी को दूर करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बाज़ार में अत्यधिक मात्रा में माल भर देने (डम्पिंग), शोषण तथा श्रमिकों की भुखमरी के रूप में अनेक प्रकार की हिंसा प्रचलित है। फिर भी धीरे-धीरे इनके विरुद्ध मानव-अन्तःकरण जाग्रत होता जाता है और उसमें दृढ़ता आती जा रही है।

शासन-संस्था या सरकार:—इसका आरंभ भी हिंसा में ही हुआ। और स्थापित होने के बाद भी वह हिंसा से ही चलाई जाती रही। एक शक्तिमान व्यक्ति की मनमानी इच्छा ही देश का क़ानून थी। यह इच्छा भी किसी ज्ञात अथवा सामान्य सिद्धान्त पर नहीं चलती थी। वह सनक से भरी हुई, मनमानी, आवेशपूर्ण और प्रतिहिंसक होती थी। समझावन-बुझावन और सहमति से उसका कुछ सम्बन्ध न था। वह दमन, दलन और आतंक द्वारा चलाई जाती थी। कालान्तर में शासक की व्यक्तिगत इच्छा का स्थान टुकड़ी, एक शासक वर्ग या जाति ने ले लिया। वर्ग या टुकड़ी चाहे जितनी छोटी हो, कतिपय सामान्य सिद्धान्तों के बिना वह काम नहीं कर सकती। इसलिए निश्चित क़ानून बनाये गये और बाद में उन्हें लिखित रूप भी दिया गया। उसके बाद 'कोड' बने यानी क़ानूनों का संकलन हुआ। फिर भी शासकमण्डल के सदस्यों द्वारा प्रायः इन क़ानूनों का उल्लंघन होता था। क़ानून के सामने सब समान नहीं समझे जाते थे। कालान्तर में सनक से भरी अल्पसंख्यक टुक-

ड़ियों की सरकारों का स्थान प्रजासत्तात्मक शासन ने ले लिया। प्रजातंत्र ने क़ानून की दृष्टि में सबके समान होने का सिद्धान्त चलाया। क़ानून की वास्तविक भावना का पालन करने के लिए इस क़ानून में सामान्य प्रजा की इच्छा-आकांक्षा प्रतिफलित होनी चाहिए। वह जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही बनना या हटना चाहिए। न्याय-विभाग को शासन-विभाग से स्वतंत्र किया गया। तब भी प्रजातंत्र का क्रम पूरा नहीं हुआ। व्यवहार में यह ज्ञात हुआ कि लोकप्रिय सरकारें केवल नाम और रूप में प्रजासत्तात्मक हैं; वस्तुतः वे प्रच्छन्न स्वल्प जनसत्तात्मक सरकारें हैं। ग़रीब इतने ज्यादा ग़रीब थे कि स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी दबाव के अपने वोट—मत—नहीं दे सकते, न सरकार के निर्णयों पर अपने संकल्प का प्रभाव डाल सकते थे। इसलिए आज राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। फिर भी यह उपपत्ति ('थियरी') आज भी है कि सभी प्रकार की सरकारें ज़बरदस्ती और हिंसा बल पर आश्रित हैं, यद्यपि सभ्य आधुनिक राज्यों में सरकार के पीछे रहने वाला। यह हिंसा बल असली रूप में नहीं वरन् प्रच्छन्न रूप में रहता है। उसे पीछे रखा जाता है कि जब किसी तरह काम न चले तो अन्ततोगत्वा उससे काम लिया जाय या फिर समाज-विरोधी तत्त्वों को भयभीत और नियंत्रित करने के लिए उसे रखा जाता है। सामान्यतः कार्यरूप में उसका पालन कम ही किया जाता है।

अपराध विधान:—शुरू में जुर्म—अपराध—का व्यक्ति वा कुटुम्ब से ही एकमात्र सरोकार था। सिवाय राजद्रोह के और किसी अपराध का राज्य से कोई सम्बन्ध न था। घायल वा क्षतिग्रस्त दल के लिए यह बिल्कुल मुनासिब समझा जाता था कि वह अथवा उसके मित्र और सम्बन्धी अपराधी व्यक्ति या उसके सम्बन्धियों और मित्रों से क्षतिपूर्ति करायें वा बदला लें।

दूसरी प्रकार की जायदादों की तरह झगड़े भी बच्चों को विरासत में प्राप्त होते थे। पुश्तैनी कौटुम्बिक झगड़े विरासत में पीढ़ियों तक

बाप से लड़के को मिलते रहते थे। बाद में राज्य का हस्तक्षेप हुआ। पहले तो उसने (राज्य ने) इन कौटुम्बिक झगड़ों में खुद दिलचस्पी लेनी शुरू की। प्रतिहिंसा का नियंत्रण किया गया। बाद में हत्या-समेत हरएक जुर्म का आर्थिक मूल्य निश्चित हो गया और पक्ष-विपक्ष को उतना रुपया दे-लेकर मामला तय करने का अधिकार दिया गया। राज्य सिर्फ इसी बात में हस्तक्षेप करता था कि ठीक दाम दिया गया है या नहीं। अपराध को एक निजी मामला समझने से लेकर उसे सार्वजनिक रूप में ग्रहण करने तक बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन हुए हैं। धीरे-धीरे राज्य ने अपनी सत्ता—अपने प्रभुत्व को दृढ़ किया है। आज अधिकांश अपराधों का राज्य से सरोकार है। जुर्म या अपराध आज व्यक्तियों के ही विरुद्ध नहीं बल्कि समाज और राज्य के विरुद्ध समझे जाते हैं। पक्ष-विपक्ष अदालतों के सामने अपना मामला पेश करने के लिए बाध्य हैं और फैसले में जो भी दण्ड दिया जाता है उसे राज्य के नियुक्त अधिकारी सार्वजनिक हित के अनुसार अमल में लाते हैं। क्षतिग्रस्त होने पर भी व्यक्ति प्रायः गवाह मात्र होते हैं।

दण्ड :—यह ख़ूनी और निर्दयतापूर्ण था। दासत्व, अंग-भंग, सूली, कष्टपूर्ण सार्वजनिक प्राणदण्ड का आमतौर पर प्रचलन था। इंग्लैण्ड में तो उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक सैकड़ों ऐसे अपराधों के लिए, जिन्हें आज मामूली अपराध समझा जायगा, प्राणदण्ड दिया जाता था। अंग-भंग करने, दागने और कुरूप बना देने के दण्ड सामान्य—आम थे। सभ्य देशों में आज वे सब बातें बदल गई हैं। कई सभ्य देशों ने तो फाँसी की सज़ा बिल्कुल उठा दी है। और जहाँ अभी वह है वहाँ भी अपराधी को उसके समाज-विरोधी कार्यों से सदा के लिए विदा कर देने का काम बहुत ही प्राइवेट और कम से कम कष्टपूर्ण ढंग पर सम्पादित किया जाता है। दण्ड का सिद्धान्त ही बदल गया है। आज बहुत थोड़े लोग प्रतिहिंसा और बदले अथवा सुरक्षा के लिए प्रतिबन्ध लगाने के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। धीरे-धीरे यह अनुभव किया जा रहा है

कि जहाँ अपराध वृत्तियाँ, पैत्रिकता, प्रतिकूल परिस्थिति, बुरे पड़ोस और दूषित शिक्षण का परिणाम नहीं होतीं तहाँ उन्हें ऐसा रोग समझना चाहिए जो शारीरिक दण्ड की अपेक्षा मानसिक चिकित्सा से दूर किया जा सकता है। जेल सुधारगृह (रिफार्मेटरीज) बन गये हैं जहाँ अपराधियों को कुछ उपयोगी पेशों या कला-कौशल की शिक्षा दी जाती है और उनकी अपराध वृत्तियों को दूर कर उन्हें स्वस्थ रूप में बाहर दुनिया में भेजा जाता है ताकि वे भले और सामान्य नागरिकों की हैसियत से नया जीवन आरंभ कर सकें।

दीवानी क़ानून :—आरंभ में ऋणदाता ही इस बात का एक-मात्र निर्णायक था कि वह किस प्रकार अपना ऋण वसूल करे। राज्य इसमें हस्तक्षेप नहीं करता था। ऋणदाता ऋणी को अस्थायी या स्थायी दास बना सकता था। वह ऋणग्रस्तकी जान ले सकता था या उसका अंग-भंग कर सकता था। पहले राज्य ने इस बात की सीमा निर्धारित कर दी कि यहाँ तक ऋणदाता अपना ऋण वसूल करने के लिए बढ़ सकता है। पहले ऋणग्रस्त के जीवन और शरीर को सुरक्षित किया गया;फिर ऋणदाता के चंगुल से ऋणी को मुक्त किया गया। धीरे-धीरे यह नियम बना कि ऋणग्रस्त के वारिस और वंशज ऋणदाता के दावे से मुक्त होंगे; उनपर तभी दावा किया जा सकेगा जब वे ऋणग्रस्त की पूँजी या जायदाद के वारिस हों। आज ऋणदाता का ऋणी की जायदाद पर कुछ नियंत्रित और सीमित अधिकार मात्र रह गया है। इन अधिकारों के बारे में भी फैसला देने का अधिकार राज्य के हाथ में है; और जब ऋणदाता डिग्री प्राप्त कर लेता है तब भी उस पर अमल क़ानून-द्वारा स्वीकृत तरीके पर राज्याधिकारियों की सहायता से ही हो सकता है।

इकरारनामे पर अमल करवाने के मामले में, अन्य नौकरों और श्रमिकों के प्रति व्यवहार में, संक्षेप में अनेक सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं के मामले में हम इसी परिवर्तन-क्रम को कार्यान्वित होता देखते हैं। मानव- जीवन और कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगतिशील

सभ्यता का मार्ग अहिंसा, सहयोग, प्रेम और सत्य का मार्ग ही रहा है। यदि ये आधार-सिद्धान्त न होते तो समाज छिन्न-भिन्न हो जाता और इस पृथ्वी पर मानव-जीवन असंभव हो गया होता। अपने को सभ्य बनाने के लिए व्यक्ति को इन्हीं मार्गों का अवलम्बन लेना पड़ा। और अगर समूह या वर्ग को भी सभ्य होना है तो उसे भी इन्हीं रास्तों से गुज़रना होगा। सामूहिक सम्बन्धों में भी सन्देह, अविश्वास, घृणा और हिंसा के स्थान पर विश्वास, सत्य, प्रेम और अहिंसा की स्थापना करनी पड़ेगी। जब तक यह नहीं किया जाता तब तक व्यक्तिगत और समूह-गत दोनों प्रकार के जीवन ख़तरे में रहेंगे।

० ० ०

व्यक्ति को पालतू करने और फिर उसे समाजप्रिय और सभ्य बनाने में मानवता ने द्वैध उपाय का अवलम्बन लिया। पहले तो उसने उसके मस्तिष्क को ज्ञानालोक से प्रकाशित किया और सुधारा; फिर ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ, मर्यादाएँ और अवरोध पैदा किये जिनके कारण समाज-विरोधी व्यवहार कठिन और कष्टपूर्ण हो गया। एक ओर मानसिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से समस्या को समझने की कोशिश की गई; दूसरी ओर प्रथागत और बाह्य उपायों का सहारा लिया गया। व्यक्ति के मन और इच्छाशक्ति को महान पुरुषों, सुधारकों और प्रवक्ताओं (नबियों) की शिक्षाओं, उपदेशों और उदाहरणों से संस्कृत एवं शुद्ध किया गया। और इस तरह जो कुछ मिला उसे क़ानून-निर्माताओं, राजनीतिज्ञों तथा मानव-जाति के महान् शासकों एवं सम्राटों ने प्रथाबद्ध किया। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों क्रम साथ-साथ चलते रहे। जब-जब मानसिक और सुधार-सम्बन्धी प्रगति अपने लिए आवश्यक प्रथाएँ और संस्थाएँ न पा सकी तब-तब वह काल-प्रवाह में नष्ट हो गई। इसी प्रकार यदि बाह्य प्रथाएँ और संस्थाएँ मानसिक तथ्यों की सीमा के बाहर चली गईं तो अन्तःस्फूर्ति के अभाव में शिथिल होते-होते समाप्त हो गईं।

इसी प्रकार समूह के सुधार और संस्कार में भी आन्तरिक और बाह्य,

सैद्धान्तिक और संस्थागत—मतलब द्वैध उपायों का अवलम्बन लेना पड़ेगा। बहुत दिन नहीं हुए कि विचारधारा में प्रगति न होते हुए भी संस्थागत प्रगति के टिकाऊ न होने और फलतः असमय नष्ट हो जाने का एक उदाहरण हमारे देखने में आया। राष्ट्र-संघ (लीग आफ नेशंस) की असफलता का मुख्य कारण यही था कि अभी तक मानवता ने सामूहिक सम्बन्धों में सत्य और अहिंसा के औचित्य, न्याय और प्रभाव, यहाँ तक कि आवश्यकता को भी, स्वीकार नहीं किया है। ऊपर-ऊपर जो भी कहते रहे हों पर राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य युद्ध और कूटनीति में विश्वास रखते थे; समूहों या वर्गों के मन को तो छोड़ दीजिए व्यक्तियों के मन भी अभी तक इस सम्बन्ध में बदलने को तैयार नहीं दिखाई पड़ते। कुछ उपदेश और प्रचार हुआ है पर इतना काफ़ी नहीं कि व्यक्तियों या वर्गों—समूहों—को नूतन सामूहिक सदाचारनीति ग्रहण करने को तैयार किया जा सके। एक दूसरे के प्रति अविश्वास रखते हुए जब हरएक राष्ट्र शस्त्रीकरण की दौड़ में आगे बढ़ जाने को उतावला हो और उसके लिए गुप्त समझौते और सन्धियाँ कर रहा हो तो राष्ट्रसंघ कैसे जीवित बच सकता था? उतने दिन भी जो वह अपंग की भाँति ज़िन्दा रहा, सो कुछ अपनी अन्तःशक्ति के कारण नहीं बल्कि महायुद्ध से थके और त्रस्त विजित राष्ट्रों की दुर्बलता के कारण। ज्यों-ज्यों यह भय और थकान दूर होती जाती है त्यों-त्यों राष्ट्रों की भूख बढ़ती जाती है और वे दूसरे वृहत्तर और भयानक युद्ध के नजदीक आते जा रहे हैं।*

---

*बाद को घटनाओं ने वर्षों पहले लिखी इन पंक्तियों की यथार्थता सिद्ध कर दी है।

—संपादक।

—३—

रास्ता

तब इस परीशान दुनिया में गांधी अपने सत्य और अहिंसा के साथ आता है। वह एक ऐतिहासिक मिशन—कार्य—पूरा करने और एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए आता है। हम लोगों के सौभाग्य से उसमें न केवल नवीन सुधार के लिए आवश्यक मानसिक तथा सैद्धान्तिक आधार पाया जाता है बल्कि बाह्य संस्थाओं में उसे संघटित करने की शक्ति भी उसमें दिखाई पड़ती है। धूर्त्तता भरी कूटनीति, हिंसा और युद्ध के इस युग में, जीवन के सम्पूर्ण विभागों और पहलुओं में सत्य और अहिंसा के प्रति उसकी सम्पूर्ण अविचलित निष्ठा बहुतों के मन में उसकी बातों के विषय में स्वाभाविक सन्देह पैदा करती है—विशेषतः उसके विरोधियों के मन में। किन्तु यह यदि विद्वेषपूर्ण नहीं तो एक ऊपरी दृष्टि है। उसकी धारणाएँ अद्भुत् और अव्यावहारिक मालूम पड़ सकती हैं। उन्हें एक आत्मलीन साधक और स्वप्नद्रष्टा के उद्‌गार कहा जा सकता है लेकिन हमें भूलना न होगा कि वह उन धारणाओं को संघटित रूप दे सके हैं और उनसे कुछ ठोस परिणाम भी निकले हैं। अन्ततोगत्वा अपने सिद्धान्तों के लिए अपने अनुयायियों में जीवित श्रद्धा और विरोधियों में सम्मान का भाव वह पैदा कर सकेंगे या नहीं, यह तो भविष्य के गर्भ में है। लेकिन अब तक जो परिणाम निकले हैं वे आश्चर्यजनक हैं। दक्षिण अफ्रीका, चम्पारन, खेड़ा और बारडोली की अहिंसात्मक लड़ाइयों को छोड़ दें तो भी उन्होंने तीन अखिल भारतीय लड़ाइयाँ लड़ी हैं—दो स्वयं अपने से शुरू की हुई और तीसरी सरकार द्वारा उन पर लादी हुई। पिछली लड़ाइयों में राष्ट्र ने संसार के सबसे संघटित और शक्तिमान साम्राज्य की अनीतिपूर्ण शक्ति के विरुद्ध विद्रोह किया। फिर भी इतनी विस्तृत लड़ाई में इससे कम हिंसा और घृणा किसी युद्ध में संसार ने न देखा होगा। जीवन का विनाश अत्यन्त नगण्य परिमाण में हुआ; अनाथों

और विधवाओं का क्रन्दन, अपेक्षाकृत, बहुत कम सुनाई पड़ा। युद्ध में भाग न लेने वालों—अप्रतिरोधियों—का जान-माल बिल्कुल सुरक्षित रहा। इसी प्रकार प्रतिपक्षियों—दुश्मनों—के जीवन और जायदाद की भी कोई हानि नहीं हुई। मानवीय दुःख और कष्ट—सहन की मात्रा भी बहुत कम रही। इससे कम नैतिक और भौतिक लाभ उपस्थित करने वाले मामूली हिंसात्मक विद्रोहों में राष्ट्रों को कहीं अधिक हिंसा, घृणा, कष्ट-सहन और खून के दृश्य देखने पड़े हैं; उनमें विजयी और पराजित दोनों की हानियाँ कहीं अधिक हुई हैं। गांधी जी की अहिंसात्मक लड़ाइयों में दोनों पक्षों की भौतिक वस्तुओं—सामान, माल आदि—की क्षति बहुत कम, प्रायः नगण्य, हुई है। हाँ, अत्याचारी की नैतिक हानि असीम हुई है। इन तीनों गांधी-प्रवर्तित लड़ाइयों के बाद स्वराज्य केवल समय का प्रश्न रह गया है।* भारत की आत्मा से विदेशी भय और मोहनी का प्रभाव मिट चुका है। विदेशी की साख नष्ट हो गई है; उसकी नैतिक प्रभुता समाप्त हो चुकी है; उसकी रीढ़ टूट गई है। यह ठीक है कि (पूर्ण) स्वराज अभी नहीं मिला है* पर क्या ऐसी असंघटित, राष्ट्रीय प्रयत्न में अनभ्यस्त, जाति-पाँति और सम्प्रदायों में विभाजित, जनता द्वारा १५ वर्षों के थोड़े समय में हिंसा-द्वारा भी तीन छोटे प्रयत्नों में स्वराज्य मिल जाता? इटली, आयरलैंड और दूसरे राष्ट्रों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कितनी कठोर और दीर्घ-कालिक लड़ाइयाँ लड़ी हैं? और उन्हें कितने लम्बे युगों तक और कितनी अधिक मात्रा में मानवीय प्राणों की बलि देनी पड़ी है और कैसे-कैसे कष्ट सहन करने पड़े हैं! पारस्परिक दुर्भावना और घृणा की एक पीढ़ी! भारत इन सबसे मुक्त रहा है। गांधी ने युद्ध का एक नैतिक प्रतिपक्षी ढूँढ़ निकाला है। उन्होंने

---

*ईश्वरी की कृपा से १५ अगस्त १९४७ को इसकी सिद्धि भी हो गई है।

—संपादक।

उसको संघटित किया और प्रभावशाली बना दिया है। उससे कुछ ठोस परिणाम निकले हैं। उसने अभी तक राष्ट्रीय समस्या को पूर्णतया हल नहीं किया है। यह तो उनका दिशा-सूचक प्रारंभिक आन्दोलन है। परन्तु प्रारंभिक आन्दोलन की दृष्टि से इसकी सफलताएँ नगण्य नहीं हैं। इसने समस्त संसार के विचारवान लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण गांधी जी के सामने राष्ट्रीय स्वतंत्रता-प्राप्ति का एक सीमित कार्य आया। स्वतंत्र भारत में उनका युद्ध-कौशल क्या होगा, राष्ट्रों के बीच के झगड़ों को मिटाने के लिए वे किन अहिंसात्मक उपायों की योजना करेंगे और कूटनीति के क्षेत्र में वह किस प्रकार की सत्यपूर्ण राजनीति का आरंभ करेंगे, इसका उत्तर देना आज कठिन है। कदाचित् गांधी जी भी एक क्रियात्मक सुधारक की हैसियत से इन प्रश्नों का कोई विश्वासदायक उत्तर न दे सकें। इतिहास ने उनके लिए जिस कार्य की रचना की है वह एक घेरे के अन्दर है—सीमित है, अर्थात् एक विदेशी साम्राज्यवादी शासन की धृष्ट शक्ति से अपने देश को मुक्त करने का कार्य। इस युद्ध में उन्होंने अपने देश को एक नई विचार-धारा, एक नया अस्त्र और एक नया युद्ध-कौशल प्रदान किया। अपनी विचार-धारा को उन्होंने संस्था के रूप में संघटित किया। उन्होंने बाह्य प्रतिरोध के लिए सत्य और अहिंसा का संघटन किया।

सत्याग्रही कोई दुर्भावना नहीं पालता। और तब भी वह केवल अपनी आन्तरिक निजी आत्म-शक्ति पर निर्भर नहीं करता। वह इस अन्तःशक्ति को साकार रूप देता है। वह उसको नियंत्रित करता है; वह उसको संघटित करता और उसे संस्थाओं के द्वारा कार्य करने योग्य बनाता है। वह न केवल मनोवैज्ञानिक बल्कि भौतिक और बाह्य परिणामों के लिए भी कार्य करता है। जैसे प्रत्येक आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति बाह्य क्षेत्र में गुण-दोषमय साधनों का अवलम्बन लेकर कार्य करते समय अपनी पवित्रता या विशुद्धता से कुछ न कुछ च्युत हो ही जाती है, उसी प्रकार सत्याग्रह

भी अपनी ही पैदा की हुई संस्था और अपने द्वारा प्रयोग किये जाने वाले साधनों से आंशिक रूप में धुँधला पड़ जाता है। जब किसी आध्यात्मिक शक्ति को भौतिक जगत् पर आयोजित किया जाता है तो उसकी गहराई में कुछ न कुछ कमी का होना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रकृति-द्वारा माँगी गई कीमत है। विशुद्ध आत्मा अशरीरी है। उसको किसी भौतिक माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। पर ऐसी विशुद्धता इस दुनिया की चीज़ नहीं है। इसलिए यदि उनके सम्पूर्ण अस्त्र वा साधन उतने पारदर्शक न रहे हों जितना वह उन्हें देखना चाहते थे या जहाँ-तहाँ लोगों में उत्तेजना पैदा हो गई हो या कुछ मानसिक हिंसा—या शारीरिक हिंसा भी, दिखाई पड़ी हो तो कोई गांधी जी और उनके सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों की ओर उँगली न उठावे! इस दुनिया में जिस किसी ने अपने पहले के लोगों से अधिक अच्छा किया, उसी ने सबसे अच्छा किया। सम्पूर्ण श्रेष्ठ की तो क्षणिक झलक मात्र मानवता पा सकती है!

पुरातन और नूतन नियम

सामूहिक सम्बन्धों पर गांधी जी प्रेम और अहिंसा के जिस नियम—क़ानून—को घटित करते हैं निजी सम्बन्धों में युगों से वर्ते जाने वाले नियम से, कुछ बातों में, भिन्न है। धर्म-शिक्षकों ने जिस रूप में इसका उपदेश किया, वह प्रधानतः मानसिक, आन्तरिक और व्यक्तिगत था। निस्सन्देह उसका व्यावहारिक प्रयोग भी था परन्तु वह बाह्य संसार की उपस्थित समस्याओं को हल न कर सकता था। वह अपनी ही अन्तःस्थ शक्ति पर निर्भर करता था। लोगों का विश्वास था कि यदि निकट भविष्य में उसके कोई ठोस परिणाम न निकले तो कालान्तर में किसी न किसी रूप में और कहीं न कहीं इसका लाभ मिलेगा ही। मतलब उसका राज्य इस दुनिया का न था। अपनी निष्ठा में वह दृढ़ था। वह यहाँ और तुरन्त-फल प्राप्ति की परवाह न करता था। इसीलिए अहिंसा के पुराने सिद्धान्त ने अपने को संघटित करने का कभी कोई प्रयत्न न किया। वह

एक अचरज की बात है कि भले और धर्मप्रिय लोगों ने, अपने कार्य के आन्तरिक न्याय और श्रेष्ठता पर भरोसा रखते हुए भी परस्पर ऐक्य, संघटन और सहयोग करने की ओर ध्यान नहीं दिया। ये धर्मात्मा और भले लोग सदा बहुतेरे व्यक्तियों के रूप में रहे। और कभी उन्होंने अपने को संघटित करने का यत्न भी किया तो वह संघटन, जैसा हम बौद्ध और ईसाई धर्मों में देखते हैं, पार्थिव वा सांसारिक कार्यों के लिए नहीं बल्कि आध्यात्मिक समाज को उसके अन्तिम लक्ष्य निर्वाण वा परमानन्द की प्राप्ति में सहायता देने के लिए होता था। ये श्रद्धालु लोग, सांसारिक मामलों में, अपने को किसी न किसी तरह विश्वास दिलाते रहते थे कि ईश्वर अथवा प्रकृति के यंत्र हमारे लिए स्वयं ही अनुकूल परिणाम पैदा करते रहेंगे। और अगर परिणाम उनकी सीमित दृष्टि से प्रतिकूल भी हुए तो भी उनका विचार सर्वद्रष्टा पर छोड़ कर वे सन्तुष्ट हो जाते थे। दूसरी ओर दुष्टात्मा, दैवी सहायता का भरोसा न होने के कारण, सदा अपनी शक्ति पर भरोसा रखते और अपने संघटनों को सुदृढ़ करते रहे। परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि भले लोगों को आन्तरिक शान्ति और आनन्द की कमी न हुई, पर दुष्टों ने, अपने ही ऊपर भरोसा करके अपने को संघटित किया और परस्पर मिलकर इस दुनिया की सब अच्छी चीज़ों पर एकाधिपत्य कर लिया।

प्रेम का वह पुराना नियम अप्रतिरोध का भी नियम था। बुराई का प्रतिरोध न करो; जब एक मील जाने को विवश किया जाय तो दो मील चले चलो; तुमसे एक वस्त्र माँगा जाय तो और वस्त्र भी उतार कर दे दो; एक गाल पर तमाचा मारा जाय तो दूसरा गाल भी आगे कर दो; तुमको दुनिया की चीज़ों की ज़रूरत ही क्या है? सरोवर में खिले कमलों को देखो। वे श्रम नहीं करते; तब भी विकास को प्राप्त होते हैं। वे न कातते हैं, न बुनते हैं फिर भी सम्राट सुलेमान को लज्जित करने वाले परिच्छद से आच्छादित हैं! एक हिन्दू सन्त को रात में अपनी कुटिया में किसी चोर की उपस्थिति का भान हुआ। यह सोचकर कि उस भले-

मानुस के उठा ले जाने योग्य उनकी कुटिया में कुछ नहीं है, उन्होंने अपने एकमात्र कम्बल को, जिसे ओढ़े हुए थे, शरीर से उतार कर इस तरह रख दिया कि वह उसे सरलतापूर्वक ले जा सके। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी और सब कथाओं की भाँति, इस कथा का अन्त भी किसी नैतिक शिक्षण में ही होता है। चोर कम्बल ले तो गया पर संत के व्यवहार से प्रभावित होकर चोरी छोड़ दी और स्वयं साधु जीवन अंगीकार कर लिया। अधिकांश धर्मों में सन्तों के विषय में इस प्रकार की कथाएँ पाई जाती हैं। उनका अन्त सुखद होता है; या तो दुष्टकर्मा का जीवन बदल जाता है, या फिर उसे दुःख—कष्ट की आग में जलना पड़ता है और बहुधा उसकी असामयिक और दुःखद मृत्यु होती है। उस समय तो यहाँ तक माना जाता था कि किसी को बहुत ज्यादा अहिंसक भी न होना चाहिए, न प्रतिहिंसा का भार पूर्णतः ईश्वर या प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए जिसकी चक्की धीरे-धीरे पीसती है पर अच्छी तरह पीसती है। संत के लिए आदेश था कि वह कुछ न कुछ असन्तोष दिखाये, कुछ कठोर शब्द बोले, अन्यथा उसका अपराधी बिल्कुल नष्ट हो जायगा।

बिना किसी समुचित बाह्य संघटन के ऐसा सिद्धान्त, केवल संन्यासी, संसार-त्यागी के लिए ठीक था। सांसारिक मामलों में उसको कार्यान्वित नहीं किया जा सकता था। वह आत्मा, आध्यात्मिक जीवन और परलोक के लिए कितना ही फलदायक हो पर बाह्य जीवन और मानवता के सम्बन्धों का संघटन करने में उपयोगी नहीं हो सकता था। ऐसी अवस्था में समूह-गत राजनीतिक सम्बन्धों के लिए, यहाँ तक कि आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के लिए भी, अनुपयुक्त था क्योंकि इनका सम्बन्ध प्रधानतः बाह्य आचरण और व्यावहारिक परिणाम से होता है—और वह परिणाम भी भविष्य की धुँधली, दूरागत संध्या में नहीं यहाँ और अभी पाने की उत्सुकता होती है। जनता के महत समूह दीर्घ काल तक आत्यन्तिक उत्सर्ग व शहादत का जीवन नहीं बर्दाश्त कर सकते। ऐसे विशुद्ध आध्यात्मिक साधनों से उनको वस्त्र, भोजन और आश्रय नहीं मिल

सकता। भौतिक पदार्थों के लिए बाह्य प्रकृति के संघटनों की आवश्यकता होती है। विशाल मानव-समूहों को इस आशा में ढाढ़स कैसे मिल सकता है कि उनके निरीह कष्ट-सहन से भविष्य में ऐसी शक्तियाँ पैदा होंगी जो दुष्टों को भ्रमित और पराजित कर देंगी ? और उनको इस विचार या कल्पना से भी कैसे सन्तोष हो सकता है कि उनके बलिदानों से निर्दय लोगों के हृदय पिघल जायँगे और दुष्टात्मा बदल जायँगे ? अगर अहिंसा और सत्य के सिद्धान्तों को औसत स्त्री-पुरुषों में कार्यान्वित करना है, अगर उन्हें समूह-जीवन में पनपना है तो उनको इस प्रकार संघटित करना होगा कि इस दुनिया में एक समुचित समय के भीतर, उनके द्वारा ठोस परिणामों की सृष्टि की जा सके। और अगर ऐसा करना है तो उन्हें बाह्याकार देना और प्रभावकारी बनाना होगा। अपने उपयोग व सेवा के लिए उन्हें व्यावहारिक बुद्धि और विवेक पर असर डालना होगा और विशिष्ट परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल साधनों और युद्ध-कौशल की रचना करनी होगी। गांधी जी ने जिस सत्याग्रह की व्याख्या और अभ्यास किया है वह हमें ऐसा संघटन, विवेक और बुद्धि का ऐसा ही व्यावहारिक प्रयोग, ऐसा साधन और रणकौशल प्रदान करता है। इस क्रियात्मक प्रयोग में सत्य और अहिंसा की तात्त्विक गहराई को किंचित् क्षति पहुँच सकती है पर उस कमी की पूर्ति उनके क्षेत्र के विस्तार तथा उस पर उनके प्रभुत्व की स्थापना से हो जाती है।

नूतन कौशल

और पूर्व युगों में कदाचित् जो असंभव था, वह आज सम्भव है। आज दुनिया संवेदनात्मक रूप से इतनी संघटित है कि सत्याग्रह-द्वारा, औजारों से काम करना बन्द करके और अपना सहयोग हटाकर उसके जटिल यन्त्रजाल को प्रभावकारी रूप से बन्द किया जा सकता है। फिर वह राजनीतिक लोकतंत्र की प्रगति, आधुनिक आविष्कारों के फल-स्वरूप दूरी के लोप, समाचारपत्र और प्रचार के कारण जनमत के

प्रति भी अधिकाधिक संवेदनशील होती गई है। यदि हम औद्योगिक झगड़ों के समझौते में जो कुछ होता है उस पर विचार करें तो ये सब बातें आपके सामने स्पष्ट हो जायँगी। यदि मजूर प्रबन्धकों को सहयोग देने से इन्कार कर दें तो सम्पूर्ण उद्योग को एक क्षण में बंद कर दिया जा सकता है। आज एक उद्योग के बंद होने का प्रभाव, थोड़ा-बहुत, अन्य उद्योगों पर भी पड़ता है। एक व्यापक हड़ताल, मजूरों द्वारा औज़ारों के उपयोग से सामूहिक इन्कार, परम संघटित आधुनिक सरकार को झुकने और समझौता करने को विवश कर सकता है। उसके युद्ध और विनाश की सम्पूर्ण मशीनें श्रमिकों—मजूरों के सहयोग के बिना निरर्थक हो जायँगी।

पहले से कहीं अच्छी तरह आज यह बात अनुभव की जाती है कि अत्याचार और उत्पीड़न को जारी रखने के लिए न केवल उत्पीड़ित को निष्क्रिय विवश स्वीकृति की आवश्यकता होती है बल्कि उसके क्रियात्मक सहयोग की भी आवश्यकता पड़ती है—फिर वह सहयोग चाहे जिन साधनों से प्राप्त हो। जो शृंखलाएँ दीनों और उत्पीड़ितों को बाँध रखती हैं, अनेकांश में उन्हीं के द्वारा निर्मित होती हैं। एक बार वे अपनी सहायता या सहयोग देने से इन्कार कर दें तो औद्योगिक, व्यापारिक और सरकारी अन्याय एवं उत्पीड़न का सम्पूर्ण ताना-बाना नष्ट हो जायगा। इसी बात ने मजूर-आन्दोलन को न केवल संभव बल्कि भयानक रूप से शक्तिमान बना दिया है। इसी ने सर्वहारा जनता के हृदय में भविष्य के लिए आशा का संचार किया है। जनता समझ गई है कि सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत या आधार तथा सम्पूर्ण उद्योग, व्यापार और सरकार की रीढ़ वही है। उनको सिर्फ़ इतना करना है कि वे एक दूसरे से सहयोग करें, संघटित हों और जिनके हाथ में शक्तियाँ हैं, फिर चाहे वे आर्थिक हों या राजनीतिक, उनसे असहयोग कर दें। जिनके हित और स्वार्थ सम्बन्धित हैं उनको छोड़ कोई भी आज हड़तालों, यथा व्यापक हड़तालों, को व्यावहारिक राजनीति-क्षेत्र के बाहर

नहीं मानता। यह बात सार्वदेशिक रूप से मानी जा चुकी है कि यदि औद्योगिक हड़तालें न होतीं तो श्रमिकों के सम्बन्ध में जो सुधार हुए हैं वे न हो पाते। जो चीज़ हड़तालों को संभव और प्रभावशाली बनाती है वही विस्तृत सत्याग्रह को भी संभव बना सकती है। इसके लिए भी उसी प्रकार का साधन और उसी प्रकार का संघटन पर्याप्त होगा। अन्तर अमल में आने वाले बाह्य क्रियात्मक साधनों में उतना नहीं है जितना उस आन्तरिक भावना में है जो मार्गदर्शन करती और दोनों को ऊर्जस्वित करती है।

औद्योगिक हड़तालें हित-विरोध की मान्यता, वर्ग-विरोध तथा वर्ग-युद्ध पर आश्रित हैं। वर्ग-प्रतिद्वंद्विता इसका आधारभूत सिद्धान्त है। एक वर्ग की हानि दूसरे वर्ग का लाभ है। इसलिए हड़तालें वर्ग-संघर्ष, शत्रुता और घृणा के ऊपर आधारित हैं। इस शत्रुता और घृणा के बावजूद हड़तालें हिंसा से बचने की कोशिश करती हैं। जिन्होंने सफलता-पूर्वक हड़तालों का संचालन किया है, जानते हैं कि अहिंसा का क्या मूल्य है। वे जानते हैं कि अहिंसा का पूरी तरह पालन करना सफलता के लिए आवश्यक है। वे जानते हैं कि उनकी विरोधी भौतिक—स्थूल—शक्तियाँ इतनी ज़बरदस्त हैं और इतनी संघटित हैं कि वे अपने आदमियों की नैतिक दृढ़ता को उन शक्तियों की आतंककारी प्रतिहिंसाओं और उनसे फलतः उत्पन्न पतन से बचाकर ही क़ायम रख सकते हैं। अक्सर अधिकारियों ने हड़तालियों को हिंसा के लिए फुसलाकर या उत्तेजित करके हड़ताल तोड़ने को कहीं सस्ता, सरल और अधिक संभव पाया है। अगर उन्हें उसमें सफलता नहीं मिलती तो हिंसा करवाने के लिए वे उत्तेजना पैदा करने वाले गुप्त एजेंटों का सहारा भी लेते हैं। कुशल नेतृत्व औद्योगिक हड़तालों में सदा शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करता है। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में जो कुछ नीति के रूप में किया जाता है, वही सत्याग्रह में जीवन-सिद्धान्त बन जाता है। यही सम्पूर्ण संघटित जीवन का आधारभूत सिद्धान्त है। सत्याग्रही भास होने वाले हित-विरोध

के बावजूद जीवन की तात्त्विक एकता को स्वीकार करता है। हड़ताली जो कुछ दुर्बलता और शारीरिक शक्ति तथा अस्त्र-शस्त्रों के अभाव-वश करता है, उसी को सत्याग्रही अपने नैतिक बल के भरोसे करता है। वह जानता है कि युद्ध में भी शारीरिक शक्ति की अपेक्षा सेना की दृढ़ता और साहस ही अन्तिम सफलता में अधिक सहायक होता है। इसलिए वह भौतिक की अपेक्षा नैतिक गुणों में अधिक श्रद्धा रखता है। फिर भी वह बाह्य अस्त्रों—साधनों—की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु ये अस्त्र विनाश के अस्त्र नहीं होते। वे सहयोग और संघटन के अस्त्र होते हैं। वह जानता है कि अत्याचारी—ज़ालिम—शरीर-बल की अपेक्षा संघटन पर अधिक फलता-फूलता है। इसलिए वह उत्पीड़क के हिंसात्मक संघटन का सामना अपने अहिंसात्मक संघटन के द्वारा करता है। उसके संघटन में जो व्यक्ति सहयोग करते हैं उनमें अहिंसा के प्रति श्रद्धा तथा अपने कार्य के औचित्य के लिए दृढ़ विश्वास होने के कारण कहीं अधिक ऊँचा साहस होता है। नैतिक सिद्धान्तों के प्रति इस श्रद्धा और अपने कार्य की न्यायपूर्णता के कारण सत्याग्रही न केवल अपने हेतु तथा लक्ष्य के विषय में अधिक सतर्क रहता है बल्कि जिन साधनों और सामग्रियों का प्रयोग करता है उनके विषय में भी सावधान रहता है। वह विवशतापूर्ण आवश्यकता और दुर्बलता के कारण अहिंसात्मक नहीं रहता बल्कि अपनी स्वतंत्र पसन्दगी और नैतिक शक्ति के कारण अहिंसा को अपनाता है।

पर सत्याग्रह के नेता को ऐसे आदमियों से काम लेना पड़ता है जो अपने शिक्षण, बुद्धि और नैतिक विकास की विभिन्न-श्रेणियों में होते हैं। इसलिए जहाँ वह सच्ची अन्तःशक्ति नहीं प्राप्त कर सकता तहाँ बाह्य सादृश्य को ग्रहण करने से मुँह भी नहीं मोड़ता। वह उसी तरह कर्म या आचरण की अहिंसा को स्वीकार करता है जिस तरह कोई धर्म-सुधारक कर्मकांडीन सादृश्य स्वीकार करता है—इस विश्वास और आशा के साथ कि यह अप्रतिहत बाह्य सादृश्य आचरण की ऐसी आदतें पैदा कर देगा जो कदाचित् अन्त में मन पर प्रभाव डालेंगी और हृदय को बदल देंगी।

साथ ही वह केवल यांत्रिक सादृश्य के कुप्रभावों को भी जानता है। वह निरन्तर हृदय की शुद्धता पर ज़ोर देकर उसके इन कुप्रभावों को दूर करने की चेष्टा भी करता है। किन्तु जैसा कि किसी व्यावहारिक कार्यकर्ता को करना पड़ता है उसे ख़तरा उठाना ही पड़ेगा। फिर नेता साधारण सैनिकों और कार्यकर्ताओं में चाहे जिस प्रकार के बाह्य सादृश्य को स्वीकार कर ले किन्तु अपने प्रधान सहकारियों और उसके आन्दोलन में नेतृत्व करने वालों को वह इस प्रकार की छूट नहीं दे सकता।

सत्याग्रह का अंग्रेजी अनुवाद निष्क्रिय प्रतिरोध ('पैसिव रेसिसटेंस') या असहयोग ('नान-कोआपरेशन') किया गया है। पर ये शब्द सत्याग्रह की सच्ची महत्ता को प्रकट नहीं कर पाते। सत्याग्रह में निष्क्रिय जैसी तो कोई चीज़ ही नहीं है, न वह कोई निषेधात्मक धारणा है। यह कर्म, संघटन, संघर्ष और प्रतिरोध का एक निश्चित विधेयात्मक सिद्धान्त है। यह निष्क्रिय वहीं तक है जहाँ तक शस्त्र-प्रतिकार का सम्बन्ध है; पर उसका नैतिक प्रतिरोध बहुत क्रियाशील और दृढ़ होता है। अत्याचार और बुराई के साथ सहयोग करने से जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ होते हैं यह नैतिक विरोध उन सब का त्याग कर देता है। इससे आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों के जीवन में पवित्रता और शुद्धीकरण का तत्व आ जाता है। इससे कुछ न कुछ संस्कार, किसी न किसी तरह का हृदय-परिवर्तन होगा। यह निश्चय ही कुछ प्रतिबन्ध, नियंत्रण और संयम का विधान करता है। कभी-कभी ये प्रतिबन्ध ऐसी चीजों और कार्यों पर लगाये जाते हैं जो सामान्यतः ख़ुद अपने तईं निर्दोष और नीति-क्षेत्र के बाहर होते हैं; जैसेः—सरकारी अधिकारियों के साथ घनिष्ठ सामाजिक सम्पर्क, या विदेशी वस्तुओं का प्रयोग, या सरकारी उपाधियों, स्कूलों और अदालतों की स्वीकृति और उपयोग। दूसरे समय प्रतिबन्ध सचमुच ऐसी चीज़ों और कार्यों पर लगाये जाते हैं जो न तो निर्दोष, न नीतिबाह्य होते हैं बल्कि निश्चित रूप से बुरे और हानिकर होते हैं। जैसेः—अस्पृश्यता, और मादक द्रव्यों और पेयों का प्रयोग। कुछ लोग

सोचते हैं कि ऐसे प्रतिबन्ध केवल सत्याग्रह का अनोखापन है। लेकिन ज़रा विचार करने से मालूम हो जायगा कि किसी भी दिशा में किये जाने वाले प्रभावशाली और केन्द्रित कार्य के लिए कुछ न कुछ प्रतिबन्ध सदा लगाये जाते रहे हैं। अतीत काल की सभी धार्मिक, राष्ट्रीय और आदर्शवादी लड़ाइयों ने उनका प्रयोग किया है। ईसाई, मुसलमान और सिख फौजों ने इस प्रकार के निषेधों और प्रतिबन्धों का प्रयोग किया और सच पूछें तो सफलता प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हरएक फ़ौज के लिए ये ज़रूरी हैं। बोल्शेविकों को कोई आध्यात्मिक मूल्यों का अपराधी नहीं करार दे सकता फिर भी नेताओं और सैनिकों पर नहीं बल्कि मामूली नागरिकों पर उनके द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों की गिनती करना कठिन है।

व्यावहारिक प्रयोग

समूह-जीवन पर सत्य और अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग में प्राचीन आध्यात्मिक और नैतिक सुधारकों का 'बुराई के प्रति अप्रतिरोध' का सिद्धान्त भी बदल जाता है। सत्याग्रह पुराने अर्थ में 'बुराई के प्रति अप्रतिरोध' का सिद्धान्त नहीं है। जैसा कि मैंने कहा है, इसका अप्रतिरोध केवल शारीरिक और हिंसात्मक उपायों के अवलम्बन न लेने तक सीमित है। इतनी मर्यादा के साथ वह अत्यन्त कट्टर और सुदृढ़ प्रतिरोध है। उदाहरणार्थ, गांधी जी यह नहीं कहेंगे कि चूँकि अंग्रेज़ों ने अपने डेढ़ सौ वर्षों के राजनीतिक और आर्थिक शोषण में भारत को कोटि-कोटि रुपयों से वंचित कर दिया है इसलिए उनके हृदयों के आध्यात्मिक परिवर्तन और संस्कार के लिए, व प्रकृति द्वारा उनको बदला दिये जाने की आशा से, भारत को अपनी गाढ़ी कमाई का और धन इंग्लैंड भेजना चाहिए। इसकी जगह वह यह कहेंगे कि जो धन अंग्रेज ले गये हैं वह बुराई के साथ हमारे सहयोग के फलस्वरूप ले गये हैं; हमें अपना ढंग सुधारना चाहिए और स्वदेशी के आधार पर हमें अपने धन की उत्पत्ति, बँटवारे और खपत का पुनर्घटन करना चाहिए और इस प्रकार स्वदेश से धन

बाहर जाने के स्रोत को बंद कर देना चाहिए। हिन्दुस्तानी व्यापारी और दलाल से वह कहेंगे कि विदेशी वस्त्रों व ऐसी चीज़ों का व्यापार करना पाप है जो यहाँ बनाई जा सकती हैं। विदेशी वस्तुओं का आयात करने वालों से वह कहेंगे कि तुम्हारे लाभ का धन कलंकित धन और पाप की कमाई है। ग्राहकों से वह कहेंगे कि अपने को नीचे गिराने और और अपने पड़ोसियों को भूखों मारने के पाप से बचो। वह उनसे यह भी कहेंगे कि उनका प्रथम कर्तव्य अपने देश के भाइयों के प्रति है। सत्याग्रही पियक्कड़ के एक प्याला माँगने पर उसे दो प्याला नहीं दे देगा। वह प्रत्न करेगा कि पीने के पक्ष में जो मानसिक और शारीरिक प्रलोभन हैं वे दूर कर दिये जायँ। जब उसके हाथ में शक्ति होगी तो वह इस बुराई को रोकने के लिए क़ानून बनाने से भी नहीं हिचकेगा। इसी प्रकार शाही सिक्का देखकर ईसा मसीह की भाँति गांधी जी यह न कहेंगे कि "जो चीज़ें सीज़र की हैं उन्हें सीज़र को दे दो।" इसकी जगह वह कहेंगे कि समाज की सेवा का सम्मान्य और गौरवपूर्ण दायित्व सीज़र का है। उसे सोना-चाँदी मिलेंगे पर उतनी ही मात्रा में और वहीं तक, जहाँ तक जन-सेवा के अपने इस दायित्व की पूर्ति में उसे आवश्यकता होगी; उससे अधिक नहीं। ग़रीबों के सेवक और ट्रस्टी को जिस प्रकार रहना चाहिए उस प्रकार रहने के लिए उसे पर्याप्त साधन सुलभ होंगे। गांधी जी यह भी पूछना चाहेंगे कि क्या सीज़र की सरदारी जनता को मंजूर है? हाँ, उन्हें (गांधी जी को) इस बात की कोई खास चिन्ता न होगी कि सीज़र की चमड़ी का रंग क्या है, या वह किस जाति और सम्प्रदाय या वर्ग का है। अगर असली मुद्दों पर सन्तोषजनक उत्तर न मिलेगा तो फिर सीज़र का नहीं पर सीज़रवाद का—सीज़र प्रणाली का—विनाश करना होगा। सत्याग्रही का झगड़ा आदमियों और व्यक्तियों से नहीं होता। उसका विरोध प्रणालियों और संस्थाओं के प्रति है। जब तक व्यक्ति किसी ग़लत प्रणाली का संचालन करने में लगे रहेंगे और उसके साथ सहयोग करते रहेंगे तब तक उनका प्रतिरोध करना पड़ेगा। उनके प्रति जो विरोध

है वह उनके मशीन या प्रणाली का एक पुर्ज़ा या हिस्सा होने की हैसियत से है; वह व्यक्तिगत विरोध नहीं है। अनुभव ने स्पष्ट कर दिया है कि हममें से सर्वोत्तम लोगों का व्यवहार उस हैसियत से प्रभावित होता है जो हम किसी प्रणाली में रखते हैं। हम जिस प्रणाली का प्रबन्ध करते हैं यदि वह बुरी है तो हमारे आचरण के भी बुरे होने की संभावना है। इसके अलावा सत्याग्रही यह भी मानता है कि अधिकारी जिस प्रणाली को चला रहे हैं उसके वे खुद भी उसी प्रकार शिकार हैं जिस प्रकार उस प्रणाली के बोझ से कराहते हुए अन्य लोग हैं। इसलिए वह व्यक्तिगत-रूप से उनके प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखता।

पुराने लोगों ने बुराई के प्रति अप्रतिरोध की जो कल्पना की थी वह एक विशुद्ध आध्यात्मिक सिद्धान्त था। उसके द्वारा एक व्यक्ति का अपने और अपने कर्त्ता के प्रति जो कर्तव्य था उसका विधान किया गया था। एक सीमा तक उसने सामाजिक कर्तव्य का भी नियंत्रण किया परन्तु उसका समूहों के आचरण से कोई सम्बन्ध न था और था तो वहीं तक जहाँ तक व्यक्ति उसे प्रभावित करते थे। पर सत्याग्रह में दोनों बातें हैं: वह एक व्यक्तिगत दायित्व है और साथ ही एक सामाजिक एवं राजनीतिक कर्त्तव्य भी है। पुराने ढंग के अप्रतिरोध में एक और भी बात थी। वह किसी धृष्ट शक्ति या अनीतिपूर्ण सत्ता—फिर चाहे वह कुटुम्ब की हो या किसी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक वर्ग की हो—के आगे न झुकने के व्यक्ति के अधिकार का प्रतिपादन भी करता था। सत्याग्रह में यह अधिकार तो सुरक्षित है ही, साथ ही वह इस अधिकार-रक्षण के निमित्त संयुक्त और सामूहिक कार्रवाई का विधान करता है। यह किसी के व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा और किसी के व्यक्तिगत विरोध तक ही सीमित नहीं रह जाता बल्कि सामूहिक कार्रवाई करता है और यदि आवश्यकता होती है तो बुरी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक प्रणाली का चलना असंभव करके उसका अन्त कर देता है। इस सम्पूर्ण क्रम में हिंसा, जबर्दस्ती या बदले की भावना नहीं होती बल्कि अपने कर्तव्य का पालन करने की भावना

होती है—इस कर्तव्य का पालन करने की जो प्रणाली मनुष्य को पतन और गुलामी की ओर ले जाती है उससे अपना सहयोग और समर्थन हटा लेना चाहिए। इस तरह सामूहिक कार्रवाई के रूप में सत्याग्रह की जो धारणा है वह उन सब लोगों का प्रतिरोध और विरोध करेगी जो बुरी प्रणाली का संचालन कर रहे हैं। यह अनिवार्य है। एक ऐसी विषम और जटिल दुनिया में, जहाँ लोगों के हित सदा एक स्थान पर नहीं मिलते, बिना किसी संघर्ष या विरोध के कर्तव्य का पालन नहीं किया जा सकता। फिर समूह-जीवन पर तो यह बात और भी लागू होती है। पर यह विरोध या संघर्ष उन आदमियों या दलों की सृष्टि नहीं है जो अपने नैतिक कर्तव्य का पालन करना चाहते हैं। और फिर जब कर्तव्य का पालन बिना किसी दुर्भावना के सत्यमय और अहिंसात्मक रीति से किया जाता है तो विरोधी अड़ंगे की शिकायत नहीं कर सकता। उसे परिस्थिति से हट जाने और इस प्रकार परेशानियों से अपने को बचा लेने की छूट है। हाँ, यह बिल्कुल सम्भव है कि दो ऐसे व्यक्तियों या समूहों में संघर्ष उठ खड़ा हो, जो ईमानदारी के साथ जिसे वे अपना कर्तव्य समझते हों उसके पालन में तत्पर हों। ऐसी हालत में एक सत्याग्रही अपनी लड़ाई को उच्चतर नैतिक धरातल पर पहुँचा देता है क्योंकि उसकी लड़ाई में कोई झूठ, धोका-फरेब, हिंसा या घृणा नहीं होती।

पुराने ऋषियों या नबियों की बुराई के प्रति अप्रतिरोध की जो धारणा थी उसमें विरोधी के सुधार का, उसके हृदय-परिवर्तन का भी एक शक्तिमान तत्त्व निहित था। सत्याग्रह में भी यह तत्त्व वर्तमान है; अन्तर इतना ही है कि उसमें यह क्षीण रूप में है। समूह का और सरकारी अधिकारियों का मन व्यक्तियों के मन की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से कम विकसित और अधिक यांत्रिक होता है। वह विवेक या नैतिक प्रभाव से कम प्रभावित होता है। उसके लिए नैतिक या बौद्धिक आत्म-विश्लेषण कठिन होता है। आमतौर से व्यक्तिगत मन की अपेक्षा सामूहिक मन नैतिक या बौद्धिक विकास में पिछड़ा होता है। चूँकि समूहगत मन पर

सामूहिक निर्देशों का प्रभाव अधिक होता है इसलिए अहंकार, उत्तेजना, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाएँ उसे बहुत शीघ्र विचलित और अस्थिर कर देती हैं। कभी-कभी तो शंका होती है कि जिस अर्थ में हम व्यक्ति के लिए 'मन' शब्द का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में समूह का मन होता भी है या नहीं। फिर भी समूहगत या सरकारी मन जैसी किसी चीज़ का आभास तो होता है। सत्याग्रही जिस सफलता और सरलता के साथ व्यक्ति के मन को प्रभावित कर सकता है उसी सफलता और सरलता के साथ इस सामूहिक मन को प्रभावित नहीं कर सकता। सामूहिक मन कहीं अधिक भौतिक और यांत्रिक होता है, इसलिए नैतिक और आध्यात्मिक अपीलों के प्रति उतना ग्रहणशील नहीं होता; इसका कारण यह है कि उसके कार्य प्रधानतया बाह्य होते हैं। फिर भी जिन लोगों ने सत्याग्रह को अमली रूप में कार्य करते देखा है उनकी आँखों से यह बात छिपी न होगी कि उससे व्यक्तियों, और कभी-कभी महत्वपूर्ण व्यक्तियों, के हृदय बदल जाते हैं। इसके अलावा विरोधी दल में हिंसा का आश्रय लेने की स्फूर्ति ठंडी पड़ जाती है। उसके क्रोध और वैमनस्य को पनपने के लिए बहुत कम खाद्य-सामग्री मिलती है। प्रायः वह विवशतापूर्वक खाली हवा में हाथ पीटकर रह जाता है। पर्याप्त प्रतिरोध न होने से उसके हाथ थक जाते हैं। फिर उन उदासीन—निष्पक्ष—लोगों की शुभाकांक्षा और सहानुभूति से भी उसे हाथ धोना पड़ता है जिनकी सम्मति और नैतिक समर्थन सम्पूर्ण लम्बे संघर्षों में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। उनकी शुभाकांक्षा और सहानुभूति सदैव सत्याग्रही के साथ होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हृदय विचलित और प्रभावित होता है। इस बारे में इस तथ्य का भी ध्यान रखना पड़ता है कि एक सत्याग्रही दल खुद उतना अहिंसात्मक और अनासक्त, सत्यपूर्ण और पवित्र नहीं हो सकता जितना व्यक्तिगत रूप से एक सत्याग्रही हो सकता है। इससे हृदय-परिवर्तन के क्रम में कुछ न कुछ बाधा आती ही है।

जो लोग सत्याग्रह के युद्ध-कौशल को अव्यावहारिक मानते हैं उन्होंने इस विषय पर ठीक तरह से विचार नहीं किया है। यद्यपि प्राचीन और आधुनिक इतिहास में अहिंसात्मक कार्रवाई के कुछ फुटकर उदाहरण मिलते हैं, यह मानना ही पड़ेगा कि गांधी जी के सत्याग्रह की कल्पना नई है। बहुत ही परिवर्तित रूप में औद्योगिक क्षेत्र में उस पर अमल हुआ है। धीरे-धीरे उसकी जड़ वहाँ जम रही है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अगर युद्ध का निराकरण करना है तो वह विनाश के बराबर तेज़ होते हुए अस्त्रों—साधनों—से संभव नहीं है। उस क्रम से शस्त्रीकरण में वृद्धि होती है और नये भय, नई घृणा और नये संघर्ष पैदा होते हैं। आज तो बहुतेरे छोटे राष्ट्र ऐसे हैं जो सच्चाई के साथ युद्ध से दूर रहना चाहते हैं। फिर भी उन्हें शस्त्रों का ढेर लगाना पड़ता है क्योंकि संघर्ष से छुटकारे का और कोई उपाय उन्हें कहीं संभव दिखाई नहीं देता। वे प्रतिद्वंद्विता की दौड़ में पड़ जाते हैं, यद्यपि वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे बड़े और अधिक साधन-सम्पन्न राष्ट्रों के साथ संघर्ष में सफल नहीं हो सकते। इस प्रकार हिंसा और घृणा द्वारा उत्पन्न दूषित जाल का दायरा बढ़ता ही जाता है। यह दायरा सामूहिक घृणा और सामूहिक हिंसा से कभी नहीं टूट सकता; इसके लिए इनके अलावा किसी दूसरे उपाय की ही योजना करनी होगी। आज तो समूह-सम्बन्धों में बुद्ध और ईसा के शब्द ही सत्य प्रतीत होते हैं। घृणा घृणा से नहीं, प्रेम से ही जीती जा सकती है; हिंसा हिंसा से नहीं, अहिंसा से ही पराजित हो सकती है।

नवीन योजना

अपनी श्रद्धा और अपने देश की प्रतिभा की परम्पराओं के अनुकूल ही गांधी जी विश्व-शान्ति के लिए एक उपाय, एक योजना और एक तत्त्व-ज्ञान का निर्माण कर रहे हैं। उनका विश्वास है कि जिस प्रगतिशील अहिंसा और सत्य ने व्यक्ति को उसके सामाजिक सम्बन्धों में सभ्य बनाया

है उसे ही अन्तर्सामूहिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी मार्ग-दर्शन करना चाहिए। कोई समय ऐसा था कि व्यक्तिगत हिंसा कभी-कभी व्यक्ति की समस्याओं का हल कर देती थी। व्यक्तिगत प्रतिहिंसा के ज़रिये ही उसे न्याय प्राप्त करने की एकमात्र संभावना थी। समाज-सुधारक और प्रवक्ता —नबी—ने इस हिंसा का नियंत्रण करने की चेष्टा की। उसने आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत का नियम बनाया। वह जानते थे कि अगर ऐसा नहीं किया जायगा तो लोग इससे भी बुरा कर छोड़ेंगे। जब मानव-पशु कुछ और विकसित हुआ तो इस नियम का आचरण भी असन्तोषजनक हो उठा। एक समय इसने मानवता की सेवा की थी पर अब उसके आगे के विकास-कार्य में बाधक हो गया। इसलिए प्रगतिशील मानवता को 'आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत' वाले नियम की जगह कोई नया और उससे अधिक उपयोगी नियम खोज निकालना पड़ा। आज अगर कोई व्यक्ति इस नियम का प्रयोग करता है तो अपने ऊपर आफ़त मोल लेता है; उसके प्रति किये अन्यायों के दूर किये जाने की जगह उसके बचे-खुचे कुछ अधिकार भी उससे छिन जाते हैं। आज व्यक्तिगत अन्याय के निराकरण का एक समाज-स्वीकृत ढंग और क्रम है; व्यक्ति को स्वयं बदला न लेकर इसके लिए क़ानून का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए वह पुराना नियम अब बेकार हो गया है। बहुत दिन नहीं हुए कि किसी झूठी या सच्ची बात पर अगर किसी को लड़ लेने की चुनौती दी जाती थी और वह उसे स्वीकार कर लड़ता नहीं था तो उसका उपहास किया जाता था। चुनौती देनेवाला ओठों पर अपने विरोधी के वीरता के अभाव के प्रति व्यंग और उपहास की मुस्कान लिये मैदान से विदा होता था। आज सभ्य समाज में इस प्रकार की चुनौतियाँ नहीं दी जातीं। उन्हें बर्बर युग की प्रथा समझा जाता है, और न्याय्य होने पर भी, उसका अवलम्बन लेने पर, लोग विरोध और तिरस्कार करते हैं और मामला तूल पाने पर राज्य की ओर से हस्तक्षेप और दण्ड का भी विधान करना पड़ता है।

सामूहिक अन्यायों के निराकरण के लिए भी पहले युद्ध और हिंसा के नियम की जो भी उपयोगिता रही हो आज वे वांछनीय परिणाम उपस्थित करने में असमर्थ हैं। अतीत काल में हमारे उत्थान और सभ्य बनने के क्रम में युद्ध की जो भी देन रही हो, आज तो वह केवल मानवता को पाशविक बनाता और घृणा तथा हिंसा के दायरे को बढ़ाता है। अब वह समूह को सभ्य बनाने अथवा उसका विकास करने में असमर्थ है। आज तो वह उलटा उसे पतनशील बनाता है और इस सामूहिक, संघटित, जीवन के पतन की बुरी एवं हानिकर प्रतिक्रिया व्यक्ति पर भी होती है। आज तो समूह-सम्बन्धों के समुचित निर्माण, सामूहिक अन्यायों के निराकरण, सामूहिक नीति के सदाचरण की रचना और एक नवीन विश्व-व्यवस्था की सृष्टि की समस्याएँ हल करने में युद्ध बिल्कुल असफल सिद्ध हुआ है।

बोल्शेवी रास्ता

बोल्शेविज़्म और साम्यवाद युद्ध और हिंसा-द्वारा, उत्पन्न समस्याओं को हल करने का दावा करते हैं। किन्तु वे जिन साधनों, जिन अस्त्रों का प्रयोग करते हैं वे वही कूटनीति, घृणा, हिंसा और युद्ध के पुराने अस्त्र और साधन हैं। इसके अलावा साम्यवादी वर्ग-विरोध और वर्ग-युद्ध में आस्था रखते हैं। कम करने या संस्कृत करने की जगह वे घृणा, विभाजन और विभेद को उत्तेजित करते और बढ़ाते हैं। उनका तर्क यह है कि वर्ग-संघर्ष और वर्ग-युद्ध तो वर्तमान समाज-व्यवस्था में निहित ही हैं और कोई वस्तुवादी उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। सत्याग्रह भी यथार्थवादिता पर आश्रित है। वह भी वर्ग-संघर्ष और वर्गप्रतिद्वन्द्विता को स्वीकार करता है। पर वह उन्हें बढ़ाने की जगह कम करने और दूर करने की कोशिश करता है। वह संसर्ग और सहयोग की बातें ढूँढ़ता है। व्यक्तियों के व्यवहार में भी पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता और विरोध भावना होती है पर ऋषि—द्रष्टा—सुधारक और प्रतिभावान राजनीतिज्ञ उनमें सहयोग और दोनों के हित-बिन्दुओं को ढूँढ़ निकालता

है। वह बाहरी विरोधों के नीचे छिपी सामान्य मानवता पर ज़ोर देता है। वह जोड़ने वाली बातों पर ज़ोर देता और उन्हें उपयोगी बनाने तथा संघटित करने का प्रयत्न करता है। वह विरोधों को बढ़ाने, उन पर ज़ोर देने या उनकी सृष्टि करने का काम अपने माथे नहीं ओढ़ता। बल्कि जहाँ विभेद और विरोध होते हैं तहाँ भी वह व्यक्तियों से उनके भूल जाने और एक सभ्य संघ-जीवन बिताने के सामान्य कर्तव्य में सहयोग करने की अपील करता है। यही बात सत्याग्रह सामूहिक वा वर्ग-जीवन में करता है। वह संयोग और सहयोग की बातें ढूँढ़ता है। उसकी अपील सामान्य मानवता के ऊपर आश्रित होती है। जहाँ वह यह कार्य करने में असमर्थ रहता है, तहाँ वह समूह की ग़लतियाँ दूर करने के लिए संघर्ष को नियंत्रित करने और उसे अहिंसात्मक एवं शान्तिय बनाने की चेष्टा करता है। जहाँ तक संभव होता है वह क्रोध और घृणा का निराकरण करने का यत्न करता है। वह झूठे और विद्वेषपूर्ण प्रचार में भाग लेने से इन्कार करता है। वह शत्रु का कालिमापूर्ण चित्रण नहीं करता बल्कि विरोधी को भी सामान्य मनुष्यता का श्रेय देता है। उसकी निगाह में वह भी एक ग़लत प्रणाली का उसी तरह शिकार है जिस तरह ख़ुद उसके हाथ से क्षति उठाने वाले और इसीलिए उस प्रणाली का अन्त कर देने की चेष्टा करने वाले दूसरे लोग हैं। इसीलिए उसमें व्यक्ति से व्यक्ति के रूप में, कोई विरोध नहीं है; विरोध प्रणालियों से है जो समय-चक्र के साथ और स्त्री-पुरुषों की अनेक पीढ़ियों के विकृत कार्यों के कारण दूषित होती गई हैं। आज जिनके हाथ में शक्ति है वे शायद ही उससे दूर भाग सकते थे। अगर हम भी उनकी स्थिति में होते तो इस बुरी प्रणाली से बँधे होने के कारण बहुत संभवतः वही करते जो वे कर रहे हैं।

पर साम्यवाद का ढंग जुदा है। वह ढूँढ़-ढूँढ़ कर विभेद निकालता है, उनको बढ़ाता और उन पर ज़ोर देता है। प्राचीन जातियों वा समाजों में जो सामान्य संस्कृति और भावनाएँ हैं उनकी उपेक्षा करता है। एक नवीन और अधिक न्यायपूर्ण विश्व-व्यवस्था के निर्माण में घृणा और

हिंसा की समर्थता में उसका जो विश्वास है उसके कारण उसने प्रत्येक देश में परस्पर-विरोधी वर्गों की सृष्टि की है। सामान्य, उभयनिष्ठ तत्त्वों और हेतुओं को घटाया जाता, बल्कि उनकी उपेक्षा की जाती है। वह एक बुरे पड़ोसी की भाँति आचरण करता है जो स्त्री-पुरुष के आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक मौलिक भेदों को जानकर उन पर ज़ोर देता है और इस प्रकार यह तर्क करते हुए कौटुम्बिक झगड़ों को बढ़ाता है कि भेद उसके पैदा किये हुए नहीं हैं बल्कि कुटुम्ब में सदा से उनका अस्तित्व रहा है। एक अच्छे पड़ोसी का आचरण दूसरे ढंग का होता है। वह पति-पत्नी दोनों के सामान्य गुणों, सामान्य हितों पर ज़ोर देता है और सदा उन्हें धीरज रखने, एक दूसरे से सहयोग करने और एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखने की सलाह देता है। आज बोल्शेविज़्म भले पड़ोसी के स्थान पर बुरे पड़ोसी की भाँति आचरण कर रहा है।

उदाहरणार्थ, अगर कोई व्यक्ति या वर्ग भारत की दो मुख्य जातियों—हिन्दू-मुसलमानों के बीच स्थित संघर्ष का अनुचित लाभ उठाकर झगड़े को बढ़ाता है तो उसके बारे में क्या ख़्याल किया जायगा? दोनों में सदियों से किसी न किसी रूप में संघर्ष तो रहा ही है। यह कहना तथ्य के विपरीत होगा कि दोनों के बीच के मौलिक और अमिट भेद केवल आर्थिक हैं। जो विभेद जन-समूहों की भावनाओं को उत्तेजित करते हैं, जब तक समाप्त नहीं हो जाते, वास्तविक विभेद हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनको सुलझाना और सुसम्बद्ध करना पड़ेगा। भारत में हम उस आदमी की देशभक्ति (फिर उसकी मनुष्यता की तो बात ही क्या) की प्रशंसा नहीं करेंगे जो हिंदू-मुस्लिम विरोध को बढ़ाता और उस पर बहुत ज़्यादा ज़ोर देता है। और अगर कोई आदमी सोचता है कि इन विरोधों को केवल हिंसा और छुरेबाज़ी से ठीक किया जा सकता है तो उसे हम एक खतरनाक, पागल या जन-समाज का शत्रु समझेंगे। भारत के दुर्भाग्य से हमारे बीच ऐसे पागल और जन-शत्रु मौजूद हैं और अपने को यथार्थवादी कहते हैं, क्योंकि वे मौजूदा विरोध का स्वीकार करते एवं उन्हें बढ़ाने की कोशिश करते

हैं और यह सोचते हैं कि ऐसा करने से ही अन्तिम शान्ति स्थापित होगी। जहाँ लोग अपेक्षाकृत शान्ति से रह रहे हों वहाँ भी साम्यवाद उनके लिए उनके बीच के मौलिक और कभी न पटने वाले, विभेद, संघर्ष और शत्रुता को खोज निकालता है जिन्हें खोज निकालने में वे लोग ख़ुद असमर्थ थे। कहा जाता है कि ऐसा अन्याय और ग़लती की ओर ध्यान खींचने और एक प्रबल संघर्ष पैदा करके सम तौल ठीक करने के लिए किया जाता है। एक सुधारक भी पीड़ित और दलित लोगों के अन्तःकरण को उनके प्रति होने वाले अन्यायों के विरुद्ध उभारता है और एक उचित और न्यायपूर्ण व्यवस्था क़ायम करने की चेष्टा करता है; लेकिन वह इसके लिए सामञ्जस्य, शान्ति और प्रेम के उपायों को काम में लाता है। मानवता के सुधार का दावा करने वाले बोल्शेविज़्म ने अन्तर्वर्गीय विभेदों में सामञ्जस्य पैदा करने का एक अजीब रास्ता ढूँढ़ा है—हिंसा और वर्ग-युद्ध का रास्ता।

इसके परिणाम

'उनके फलों से तुम उन्हें पहचानोगे।' आर्थिक समस्या हल करने के लिए बोल्शेविज़्म ने चाहे जो किया हो, शान्ति की समस्या वैसी ही उलझी हुई है। बल्कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध में आन्तरिक संघर्ष की एक और कड़ी जोड़ दी है। इस संघर्ष को विद्वेष और घृणा के निरन्तर प्रचार-द्वारा जीवित रखा जाता है। बोल्शेविज़्म की सफलता के साथ आन्तरिक संघर्ष के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से भी अधिक खूनी और निर्दय होने की संभावना की जाती है। स्वयं रूस में क्या परिणाम हुआ है। अपने वास्तविक व कल्पित शत्रु सम्पन्न मध्यवर्ग को नष्ट करने के बाद, क्रान्ति ख़ुद अपनी सन्तानों को, बल्कि अपने निर्माताओं और जन्मदाताओं को, निगल रही है। आज छुरा विपक्षियों के कलेजे में नहीं घुसता, अपने ही धर्मबन्धुओं के कलेजे का रक्तपान करता है। आज यह स्थिति है कि, शायद एक सम्पन्न मध्यवर्गी मार्क्सवादियों की क्रोधाग्नि से बच जाय पर मतभेद प्रकट करने का साहस करने वाला एक मार्क्सवादी

बन्धु नहीं बच सकता। आज बोल्शेविक रूस साम्राज्यवादी और लुटेरे राष्ट्रों से गठबन्धन किये हुए है किन्तु वह अपने दल वालों में किसी प्रकार का मत-स्वातंत्र्य सहन नहीं कर सकता। ठीक वही हालत है जो मध्ययुगीन ईसाई चर्च (धर्मसंघ) के अधीन थी। जिनके हाथ में आज शक्ति है वे कट्टरता का विधान करते हैं। जो कोई मत-सिद्धान्त की व्याख्या के विषय में उनसे मतभेद रखता है वह धर्मच्युत एवं पाखण्डी है और उत्पीड़न, दण्ड तथा विनाश के योग्य है। मध्ययुग में बहुतेरे ईसाई सन्त, अपने मत का प्रकाशन करने के कारण ही मौत के घाट उतार दिये गये, यद्यपि उनके दण्डदाताओं की अपेक्षा उनके विचार ईसा के अधिक निकट एवं अनुकूल थे। इसका कारण यही था कि चर्च की सत्ता सन्तों के हाथ में न थी। आज बोल्शेविज़्म भी वैसा ही आचरण कर रहा है। सच्चे मार्क्सवादियों, साम्यवादियों और बोल्शेविकों को अपने विश्वास की कीमत अपने खून से चुकानी पड़ती है।

इधर के सालों में, वहाँ जो मुकदमे हुए हैं वे 'इनक्विज़िशन' की याद दिलाते हैं। अन्तिम क्षण की अपराध-स्वीकृतियाँ हमारे स्मृतिपट पर 'इनक्विज़िशन' की अदालतों के चित्र स्पष्ट कर देती हैं। वे हमें टोना-टोटका करने वालियों और धर्मच्युत लोगों के मुकदमों और दण्ड-स्वरूप उनके जला दिये जाने की याद ताज़ी कर देती हैं। चर्च ने भी यहूदी और मुसलमान को सहन कर लिया पर उस ईसाई सन्त को न छोड़ा जो उसके द्वारा प्रचारित धर्मान्धता के नियमों का पालन करने में असमर्थ रहा। अपनी स्वतंत्र श्रद्धा और विवेक के सहारे बाइबिल से अपने जीवन के लिए प्रकाश प्राप्त कर लेना सबसे बड़ा पाप था। शुद्ध चर्च जो प्रकाश दे उसी को ग्रहण करने का उसे अधिकार था। आज साम्यवाद की नई बाइबिल की व्याख्या रूस के नवीन धर्म के जीवित प्रतिनिधियों को करनी है। और जिनके हाथ में सत्ता है उनसे अच्छा प्रतिनिधि दूसरा कौन हो सकता है ? देखो, क्या वे सफल नहीं हुए हैं ! अगर उन्होंने सिद्धान्त को ठीक न समझा होता या उनकी ठीक व्याख्या न की होती तो वे सफल कैसे होते !

इधर के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में रूस की कूटनीति पूँजीवादी देशों से कहीं अधिक गूढ़ और जटिल रही है। वह सूक्ष्म, गुप्त और अवसरवादिनी है। वह लुटेरों के संघ के प्रति युद्ध की घोषणा के साथ आरंभ हुई। और आज वह साम्राज्यवादी देशों से भी अधिक संघ की गुहार लगाता है। रूस ने आरंभ इस घोषणा के साथ किया कि केवल युद्ध के द्वारा ही विश्व की सर्वहारा श्रमिक जनता को अवसर मिल सकता है। आज वह शांति में विश्वास रखता और शांति-प्रदर्शनों का संघटन करता है। उसे जानना चाहिए कि आज तो शांति वर्तमान स्थिति को क़ायम रखने पर ही रह सकती है जिसका अर्थ यह है कि साम्राज्यवादी राष्ट्रों के पास उनकी दुष्कृत्यों-द्वारा कमाई मिल्कियत बनी रहेगी। शांति तो केवल जो अनीतिपूर्ण स्थिति आज है उसी को बना रखने में है। पर आज अपनी आर्थिक प्रणाली को सुदृढ़ करने और युद्ध तथा विनाश के अस्त्रों—साधनों—को पूर्ण करने के लिए रूस को शांति की बड़ी आवश्यकता है। अतः सभी के लिए शांति अच्छी चीज़ होनी चाहिए। प्रत्येक साम्यवादी शांति की उसी प्रकार दुहाई देता है जैसे पहले युद्ध की देता था। कोई भी आदमी जो इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता, धर्मघातक है। रूसियों ने समझ लिया कि अभी युद्ध का होना उसके वर्तमान राष्ट्रीय शासन और नीति के लिए मृत्यु-तुल्य होगा। इसलिए जिस युद्ध को पहले संसार की सर्वहारा जनता के लिए सर्वोत्तम अवसर माना जाता था आज उसी का वह तिरस्कार करता है। जिस स्वाद और तेज़ी से रूस युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों की ढेर लगा रहा है उसे देखकर शोषक पूँजीवादी देशों को ईर्ष्या होगी। पूँजीवादी देशों की भाँति वह भी इस विश्वास का अभिनय करने की चेष्टा करता है कि 'युद्ध से ही युद्ध का अन्त होगा।' जब दूसरे देश शोषण के लिए शस्त्र-संग्रह कर रहे हैं, तब रूस विश्व शान्ति के लिए शस्त्रों के ढेर लगा रहा है। यह तर्क महायुद्ध (१९१४—'१८) काल में मित्रराष्ट्रों-द्वारा उपस्थित किये जाने वाले तर्कों की तरह है। उन्होंने सिर्फ़ युद्ध का अन्त करने और शांति तथा प्रजातंत्र की स्थापना

के लिए जर्मनी से युद्ध किया था। आज पूँजीवादी देश निःशस्त्रीकरण या शस्त्र-संन्यास के लिए ही शस्त्रों के ढेर लगा रहे हैं। रूस भी वैसा ही कर रहा है। पर निष्ठावान लोगों का कहना है कि दोनों बातें एक नहीं हैं। दोनों में अन्तर है। रूस शांति और आत्म-रक्षण के लिए शस्त्र संग्रह कर रहा है; बाकी दुनिया आक्रमण और शोषण के उद्देश्य से वैसा करती है। हमें भय है कि इस अन्तर का दर्शन केवल निष्ठावानों को ही होता है। जो दीक्षित नहीं हैं उन्हें तो बहुत कम अन्तर मालूम पड़ता है। पर शायद इसका कारण यह है कि वे नवीन द्वंद्ववाद को भलीभाँति समझने में असमर्थ हैं। हमारा विश्वास तो यह है कि न तो आन्तरिक, न अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए यह ठीक रास्ता है—उस शांति के लिए जिसके बिना मानवता की और प्रगति असम्भव है। इतना ही नहीं मानवता को जो व्यक्तिगत और सामाजिक लाभ हुए हैं, सामरिक हिंसा के कारण वे भी उससे छिन जायँगे।

बोल्शेविज़म न केवल वर्गहिंसा-द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के समाप्त कर दिये जाने में विश्वास रखता है बल्कि उसका यह भी विश्वास है कि क्रान्ति की सेवा में किसी भी साधन का इस्तेमाल किया जा सकता है। कुछ भी पवित्र और अनुल्लंघनीय नहीं है। सफलता प्राप्त करने के लिए सब प्रकार के काम किये जा सकते हैं और सब प्रकार के साधनों की सहायता ली जा सकती है। यदि सामाजिक और राजनीतिक सदाचरण—नीति—के बीच को खाईं गहरी है, जैसी है भी, तो नया दर्शन उसे और बढ़ाने, और चौड़ी करने की कोशिश करता है। सफलता के सिवा और किसी चीज़ का कोई मूल्य नहीं है और हर एक चीज़ इसी दृष्टि से जाँची जायगी। स्तालिन सफल हुआ है इससे उसकी न्याय-पूर्णता ज़ाहिर है। त्रातस्की और उसके अनुयायी असफल हो गये; इससे उनकी गलती प्रकट है। सफलता ही शुद्धाचरण की एकमात्र कसौटी है। पूँजीवादी जिन साधनों—जिन शस्त्रों का इस्तेमाल करता है, बोल्शेविज़म, भी उन्हीं को इस्तेमाल करना चाहता है। जब दो विरोधी एक ही तरह

के अस्त्रों से लड़ रहे हों तब स्वभावतः वही जीतता है जिसके अस्त्रों की धार ज़्यादा तेज़ होती है और जो उनका अधिक विस्तृत निष्ठुर उपयोग कर सकता है। इसलिए इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि जो अस्त्र और साधन आज तक पूँजीवादी राज्यों द्वारा इस्तेमाल किये गये हैं उन्हें बोल्शेविज़्म अधिक विस्तृत और निष्ठुर रूप से इस्तेमाल करता है। उनका दीप्तिमान—चमकीला—आवरण उनकी विनाश की महत्तर शक्ति के बारे में हमारी आँखें चौंधिया दे और हमें अन्धा बना दे, इसकी ज़रूरत नहीं। हर क्षेत्र में, हर विभाग में साम्यवाद पुराने साधनों को माँजकर अधिक पूर्ण करना चाहता है। वह अपने युद्ध के यंत्रों को अधिक वैज्ञानिक और अधिक कुशल बनाना चाहता है। आज उसका दावा है कि बिना किसी की सहायता के, अपने सैनिक बल तथा संगठन से शत्रु राष्ट्रों के किसी भी गुट का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है। उसका जासूस-विभाग अपने देश में और अपने देश के बाहर भी अन्य देशों के जासूस विभागों की अपेक्षा कहीं अधिक कुशल और पूर्ण है। अपनी परिवर्तनशील नीतियों एवं विचारों के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करने में धन पानी की तरह बहाया जाता है। उसकी प्रचार-प्रणाली पूँजीवादी देशों की अपेक्षा कहीं अच्छी है। वह फासिस्ट देशों से भी अच्छी है। पूँजीवाद और फासिज़्म तोपों की खुराक के रूप में व्यक्तियों का इस्तेमाल करते हैं; बोल्शेविज़्म भी अपने नागरिकों का उतनी ही स्वतंत्रता एवं निर्दयता के साथ इसी रूप में दमन करता है। हाँ, वह इतना विश्वास ज़रूर करता है कि व्यक्ति का बलिदान वह सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए कर रहा है। पर हर धर्म या सम्प्रदाय ऐसे ही विश्वास के साथ काम करता है। ईसाई धर्ममठ (चर्च) ने मानवात्माओं की रक्षा और पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य स्थापित करने के लिए मानव शरीरों का विनाश किया। बोल्शेविज़्म भी नागरिक स्वतंत्रता का नाश इसीलिए करता है कि अन्त में उसे और अधिक सुदृढ़ नींव पर स्थापित किया जाय। वह सैनिक सर्वाधिकारिता ('डिक्टेटरशिप') की

स्थापना करता है और उसे सर्वहारा जनता की डिक्टेटरशिप कहता है। फिर भी इसके समर्थक और प्रचारक इन सब बातों के पीछे छिपे असत्य और दम्भ को देखने में असमर्थ रहते हैं। असली सत्ता सर्वहारा श्रमिक जनता ('प्रोलेतरियत') के हाथ में नहीं है बल्कि बोल्शेविक पार्टी के अधिकारियों के हाथ में है जो उतनी ही सुघटित है जितनी कोई भी फासिस्त पार्टी हो सकती है। विशुद्ध और सरल आदमियों को आधुनिक परिच्छद में सजे ये पुराने समर्थन निस्सार प्रतीत होते हैं पर जो अंधानुयायी हैं, जो अपने धर्म में निष्ठावान हैं उन्हें ये इतने निश्चय-कारक मालूम पड़ते हैं कि उनके लिए वे अपना और दूसरों का जीवन खतरे में डालने को तैयार हो जाते हैं।

सरल सँकरा मार्ग

गांधी जी इन सब बातों के विरुद्ध हैं। वह युद्ध-द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले अस्त्रों से नहीं बल्कि शांतिपूर्ण साधनों द्वारा युद्ध का अन्त करना चाहते हैं। अपने साध्य—लक्ष्य—की प्राप्ति के लिए वह प्रत्येक साधन का उपयोग नहीं करते, न प्रत्येक साधन के उपयोग का समर्थन करते हैं। साध्य चाहे जितना प्रशंसनीय—वाञ्छनीय—हो, साधन की पवित्रता आवश्यक है। गांधी जी के लिए साधन उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना साध्य; क्योंकि साधन ही साध्य को प्रभावित—आक्रान्त—करते हैं। सन्दिग्ध साधनों से प्राप्त साध्य वस्तुतः अन्दर से वह नहीं होता; बाहर से उसका रूप चाहे वैसा ही दिखाई दे। अशुद्ध साधनों के प्रयोग से उसकी आन्तरिक भावना और अभिव्यञ्जना बदल जाती है। इटली-अबीसीनियन युद्ध में रूस ने उतनी ही सीमा तक इटली के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाये जिस सीमा तक उन पूँजीवादी राष्ट्रों ने लगाये, जो कमोबेश इटली की विजय के लिए उत्कण्ठित थे। और उन प्रतिबन्धों को हटाने में भी रूस ने उतनी ही जल्दबाज़ी दिखाई जितनी दूसरे राष्ट्रों ने। जब तक युद्ध चला रूस खुले आम इटली को तेल भेजता रहा। ऐसा क्यों किया गया? अपना बाहरी व्यापार—

निर्यात—बढ़ाने के लिए। गांधी के शासन में भारतीय राष्ट्र द्वारा एक निर्दय आक्रामक राष्ट्र को युद्ध-सामग्री भेजे जाने की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। गांधी अपने राष्ट्र-बन्धुओं को ऐसी पाप की कमाई से हाथ धोने की शिक्षा देगा। हमारे आधुनिक मित्रों में अनेक को यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज जब कांग्रेस के हाथ में कुछ शक्ति है तो आबकारी की आमदनी को किसानों के लिए आवश्यक सहायता देने तथा जन-शिक्षण में खर्च करने की बजाय गांधी आमदनी के इस बड़े और बढ़ते हुए स्रोत को नष्ट कर देना चाहता है। अपने देशबन्धुओं के पतन की कीमत पर, या पाप की कमाई से, सुधार के अत्यावश्यक कार्य करने की जगह वह उन सब को स्थगित कर देने को तैयार है। वह समझता है कि अगर आवश्यकता पड़े तो दूसरी दिशा में सुधारों का कार्य रोका जा सकता है पर मादकद्रव्य-निषेध का काम नहीं बंद किया जा सकता। उसके विचार से चाहे लक्ष्य वा साध्य कितना ही श्रेयस्कर हो, उसकी पूर्ति के लिए अनुचित और अनैतिक साधनों का समर्थन नहीं किया जा सकता। पर शराबखोरी तथा अन्य मादकद्रव्यों का प्रयोग बंद करने में उसने आर्थिक दृष्टि से भी शायद ठीक ही हिसाब लगाया है। किसान शराब पर जो कुछ खर्च करता है उसका १० से १५ सैकड़ा तक ही सरकार खोती है पर मादकद्रव्य निषेध से किसान जो कुछ खोता उसका शत-प्रतिशत उसके पास बच जाता है। अगर ऐसा न भी होता और किसान की आर्थिक हानि होती तो भी गांधी मादकद्रव्य-निषेध पर उसी प्रकार ज़ोर देता। वह एक नीतिवादी (सदाचरणवादी) और विवेकवान राष्ट्रनीतिज्ञ हैं; इसीलिए जिन चीज़ों को पहले स्थान देना चाहिए, उन्हें ही पहला स्थान देते हैं। तुरन्त लाभ का कोई प्रलोभन उन्हें सीधे और सँकरे मार्ग से हटा नहीं सकता। प्रायः कहा गया है कि गांधी जी भारत की स्वतंत्रता की उतनी परवा नहीं करते जितना सत्य और अहिंसा की करते हैं। यह एक ग़लत वक्तव्य है। गांधी को सत्य-अहिंसा और भारतीय स्वतंत्रता के बीच कोई विरोधभाव नहीं दिखाई देता। हिंसा

और धोकाधड़ी से प्राप्त स्वतंत्रता, उनके विचार से, केवल नाम की—बाह्य रूप में ही—स्वतन्त्रता होगी; उसकी अन्तःभावना, उसके प्राप्त प्रयोग में लाये गये अनैतिक और प्रतारणापूर्ण साधनों के कारण नष्ट हो चुके होंगे। असली स्वतंत्रता केवल उन्हीं साधनों से प्राप्त की जा सकती है जो उतने ही पवित्र हों जितना साध्य उच्च और श्रेष्ठ है।

इसलिए जहाँ तक अन्तर्सामूहिक सदाचरण या नीति का सम्बन्ध है गांधीवादी उपपत्ति और कर्म बोल्शेविज़्म की अपेक्षा कहीं अधिक अकाट्य तर्कों पर आश्रित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो विश्व-शान्ति के लिए उनका हल अधिक सुचिन्तित जान पड़ता है। आज संसार के सामने जो दो प्रधान समस्याएँ हैं, १. समूह या वर्ग को सभ्य एवं सदाचरणशील बनाने की, २. अन्तर्सामूहिक सम्बन्धों से हिंसा और युद्ध के निराकरण की, वे उनके ढंग से हल हो सकेंगी, इसे अभी कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि समस्या की पकड़, उसे समझने का ढंग ठीक है। मानवीय इतिहास और मानवीय विकास द्वारा उसका औचित्य सिद्ध है। पर यदि मानव-जाति अपने को सुधारने पर तैयार न हो तो इस दुनिया में सत्य साधन और ठीक प्रयत्न भी वाञ्छित परिणामों की प्राप्ति में असफल हो सकते हैं। सफलता तो अनुकूल परिस्थितियों की संघटना पर निर्भर करती है। फिर इसमें नागहानी 'चांस'—का भाग भी होता है। गांधी से पहले के अनेक महापुरुष अपने-अपने समय में अपने कार्यों में असफल हुए हैं; गांधी भी असफल हो सकता है। इन महापुरुषों की असफलताएँ वास्तविक की अपेक्षा बाह्य अधिक थीं। उनके प्रयत्नों से मानवता आगे बढ़ी। समझने की बात यह है कि अगर कोई सिद्धान्त मानवीय विकास के लिए उचित और आवश्यक है तो बार-बार की असफलताओं के बावजूद मानवता को उसे अपनाना होगा। अगर अभी तक की गई मानव-प्रगति को सुरक्षित रखना और आगे बढ़ाना है तो सामूहिक एवं अन्तर्सामूहिक सदाचरण (नीति) की समस्या हल करने के लिए मानव-जाति को गांधी जी की सत्य और अहिंसा

की प्रणाली को स्वीकार करना ही पड़ेगा। ईर्ष्या, धोखा-धड़ी, घृणा, युद्ध, हिंसा और साधनों के प्रति लापरवाही से कभी ये समस्याएँ हल हो सकेंगी, यह एक दुराशा मात्र है। चाहे एक श्रेयस्कर विश्व-व्यवस्था के निर्माण में नैतिक साधनों को सफलता न प्राप्त हो पर इतना तो निश्चित है कि प्रवंचना, हिंसा और युद्ध से यह हर्गिज़ नहीं हो सकता। ये पुराने अस्त्र जिस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धों में असफल हुए हैं उसी प्रकार राजनीतिक और अन्तर्सामूहिक सम्बन्धों में भी असफल हुए हैं।

: ९ :

कांग्रेस और वर्ग-युद्ध

कांग्रेस का प्रस्ताव 'वर्गयुद्ध' और 'सम्पत्ति की ज़ब्ती' के बारे में की जाने वाली असंयत बातों की निन्दा करता है। उसमें 'कांग्रेस समाजवादी' या और किसी संघटित दल का हवाला नहीं है। संघटित और अनुशासित दलों की अपनी नीति और अपने कार्य-क्रम होते हैं। इन्हें पूरी तरह वे कार्य-रूप में तभी परिणित करना चाहते हैं जब आवश्यक सत्ता और शासनयन्त्र पर प्रभुता वे प्राप्त कर लें। राज्य पर प्रभुता प्राप्त करने के बाद कोई संघटित दल यदि क़ानूनी और वैध उपायों से अपने कार्य-क्रम की पूर्ति करता है तो कांग्रेस को उसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती—सिवाय इसके कि अगर वह उसे अन्यायपूर्ण समझेगी तो सत्याग्रह करेगी। सत्ता प्राप्त करने और राजयंत्र अपने हाथ में आने के बाद कांग्रेस खुद विशाल परिवर्तनों की कल्पना करती है। कांग्रेस को जो आपत्ति है वह स्फुट व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली असंयत, अनुत्तरदायित्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में है।

अतीत काल में जब-जब क्रान्तियाँ हुई हैं तब-तब व्यक्तियों और समूहों ने दूसरे व्यक्तियों और समूहों के खिलाफ़ शासनयंत्र की सहायता लिये बिना अपने मन से, कारवाई करने में आगा-पीछा नहीं किया है। व्यक्तिगत और वर्ग-गत घृणा को बढ़ाया गया जिससे क़त्लेआम हुए और आतंक का राज्य स्थापित हुआ। ठीक ही कांग्रेस वर्ग-युद्ध पैदा करने वाले ऐसे वर्ग-द्वेष के विरुद्ध है। इसका यह मतलब नहीं कि आज वर्ग-संघर्ष का जो अस्तित्व है और जिसका अस्तित्व शताब्दियों से रहा है, उसे स्वीकार करने में कांग्रेस असमर्थ है। सदा उसका प्रयत्न रहा है और आगे भी बराबर रहेगा कि वर्ग, जाति या सम्प्रदाय-गत उन संघर्षों का निराकरण करे जो किसी वर्ग, जाति या सम्प्रदाय या सब मिलाकर राष्ट्र के लिए अन्याय-मूलक हैं। भारतीय राष्ट्र के विविध वर्गों के बीच संघर्ष की इस स्वीकृति के कारण ही हमने हरिजन, खादी और ग्राम-उद्योग कार्य-क्रमों की कल्पना की। पर यद्यपि कांग्रेस स्वार्थों या हितों के इस संघर्ष को स्वीकार करती है, वह उसे बढ़ायेगी नहीं, न वह सन्तुलन स्थापित करने और उसके सिलसिले में क़ानून अपने हाथ में ले लेने के किसी व्यक्ति या समूह —वर्ग—के दावे का समर्थन करेगी।

फिर कांग्रेस, प्रणाली और उस प्रणाली के इच्छित वा अनिच्छित, चेतन वा अचेतन अस्त्र रूप में काम आने वाले व्यक्तियों में भेद मानती है। जहाँ कांग्रेस किसी अहितकर और अन्यायपूर्ण प्रणाली का अन्त करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देगी तहाँ वह व्यक्तियों को तब तक तंग और दण्डित न करेगी जब तक उनके कार्य पाशविक अथवा क़ानून-विरोधी न हों इसलिए वह किसी व्यक्ति वा समूह से व्यक्तिगत, असंघटित बदला लेने का पूरी तौर पर विरोध करेगी। अतीत में इस प्रकार की प्रति-हिंसा ने अनेक यशस्विनी क्रान्तियों के इतिहास को अपमानित—दूषित—किया है। चूँकि कांग्रेस की नीति अहिंसा है इसलिए उसे प्रणाली और व्यक्तियों में विभेद करना ही पड़ेगा। सिवाय क़ानूनी क्रम के और किसी हिंसक उपाय से व्यक्तियों पर हाथ न लगाने की उसकी

प्रतिज्ञा है। इसलिए आरंभ से ही वर्ग-द्वेष और वर्ग-युद्ध की हरएक बात का उसे विरोध करना ही है।

जायदाद की ज़ब्ती का मामला भी इसी आधार पर आश्रित है। कांग्रेस के पास इतना समझने की बुद्धि है कि सभ्य समाज में, अन्तोगत्वा, सम्पूर्ण जान-माल पर राज्य का अधिकार है। कल्पित सामाजिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए राज्य-द्वारा बराबर इनकी माँग होती रहती है। राज्य में कुछ ऐसे भी जुर्म हैं जिनमें जायदाद-ज़ब्ती, यहाँ तक कि मृत्यु, का दण्ड दिया जाता है। यदि राज्य का अपने नागरिकों के जान-माल पर अधिकार न हो तो ऐसे दण्डों के कारण उसका व्यक्तियों एवं समूहों से बराबर झगड़ा और संघर्ष होता रहे। युद्ध के समय हर राज्य अपनी प्रजा को अनेक श्रेणियों को समाज की रक्षा या भलाई के लिए अपने प्राण भेंट करने का आदेश करता है। अनिवार्य सैनिक भरती और अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम भी चलता है। सम्पत्ति अथवा जायदाद के लिए भी यही बात है। लड़ाई की बात छोड़ दें तो भी सामान्य समय में प्रत्येक राज्य निजी सम्पत्ति का कुछ न कुछ अंश टैक्सों—करों—के रूप में छीन ही लेता है। असाधारण समय में तो सब कुछ, जिसकी उसे आवश्यकता होती है, हरजाना देकर या बिना हरजाना दिये भी, अपने अधिकार में ले लेता है। यह सब ज़ब्ती के नाम पर नहीं होता; एक संघटित सत्ता द्वारा देश के क़ानून के अनुसार टैक्स लगाने के रूप में होता है। कोई, एक क्षण के लिए भी, निजी सम्पत्ति की इस प्रकार की ज़ब्ती की आवश्यकता में सन्देह नहीं रखता। यही क्यों, उपपत्ति—थियरी, सिद्धान्त तो यह है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति राज्य की कृति—राज्य की पैदा की हुई है और प्राकृतिक अवस्था में कोई निजी सम्पत्ति नहीं होती, न हो सकती है। चूँकि राज्य, फिर चाहे उसका रूप कुछ भी हो, सम्पूर्ण निजी सम्पत्ति का जनक है, इसलिए अन्तिम अवस्था में वही उसका स्वामी भी है। आमतौर से अपने इस स्वामित्व का वह पूर्णतः या प्रत्यक्ष रूप में प्रयोग नहीं करता; पर उसका कारण

यह नहीं है कि अधिकार व्यक्तियों का है बल्कि इसलिए कि अपनी सुविधा तथा सामाजिक लक्ष्य के अनुसार राज्य ने व्यक्तियों द्वारा भौतिक वस्तुओं तथा अधिकारों पर क़ब्ज़ा किये जाने और उस क़ब्ज़े को क़ायम रखने की एक विशेष प्रणाली को सम्पूर्ण जनता या समाज के लिए हितकर मान लिया है। बहुत से संघटित राज्य तो नागरिकों को, इस सम्बन्ध में अपने ऊपर मुक़दमा चलाने का भी अधिकार देते हैं। यह हो सकता है कि एक विशेष प्रणाली को चलाने में, सर्वसाधारण के हित के लक्ष्य की भली-भाँति पूर्ति न हो। उससे अच्छी योजनाएँ हो सकती हैं पर जब तक चलती है, राज्य-विशेष अपनी ही प्रणाली, अपने ही प्रबन्ध को सर्वोत्तम समझता है, या कम से कम इतना मानता है कि यद्यपि वह परिपूर्ण नहीं है फिर भी उसमें कोई परिवर्तन करना भयावह होगा।

राजनीति में राज्य की परिभाषा यह है कि वह अपने आन्तरिक रूप में या अपनी सीमा में सर्वशक्तिमान है। यह संभव है कि राज्य अपने तात्पर्य की पूर्ति के लिए ही इस सब सत्ता का हर समय प्रयोग न करे। वह अपनी सीमा के अन्तर्गत अपनी सांसारिक सर्वशक्तिमानता के कतिपय अंशों को व्यक्तियों, वर्गों, संघों अथवा स्थानीय संस्थाओं के हवाले कर दे सकता है पर राज्य के रूप में अपनी विशेष छाप का विनाश किये बिना, अपनी सत्ता का कोई अंश स्थायी रूप से हर्गिज नहीं छोड़ सकता। वैसा करने पर अपनी सीमा में सर्वोच्च वर्ग के रूप में उसका जो स्थान है उसका लोप हो जायगा। इस तथ्य की स्वीकृति राष्ट्रसंघ के आधारभूत सिद्धान्तों में से एक है। यदि वह इसे स्वीकार न करता तो कोई राष्ट्र उसका सदस्य न बनता।

भारत के किसी भी राजनीतिक दल की तरह कांग्रेस भी मानती है कि भावी अर्थनीति को समुचित रूप देने में उस समय की नवीन परिस्थितियों के अनुकूल राष्ट्र की सेवा के लिए उसे व्यक्तियों और वर्गों के अनेक अधिकार छीनने पड़ेंगे। कराची अधिवेशन में पास हुए

'भौतिक अधिकार और आर्थिक कार्य-क्रम' वाले प्रस्ताव में इस प्रकार का एक बड़ा कार्य-क्रम उसने स्वीकार किया है। अधिकार छीनने में वह हर्जाना दे सकती है और नहीं भी दे सकती। यदि कोई राज्य समझता है कि किसी व्यक्ति या वर्ग द्वारा अतीत काल में किसी अधिकार का उपभोग अनुचित रीति से किया गया है या उस पर किये गये परिश्रम का काफ़ी मुआवज़ा अब तक उसे मिल चुका है तो वह हर्जाना देने के लिए बाध्य नहीं है। कांग्रेस जानती है कि यह सब, और इसके अलावा और भी बहुतेरे काम, जो राज्य को सार्वजनिक हित के लिए करने पड़ते हैं, उसे करने पड़ेंगे। अपने इस कर्तव्य-पालन में वह स्थापित स्वार्थों के किसी विचार से न हटेगी। वह भारत के कथित 'राष्ट्रीय ऋण' की प्रत्येक मद की जाँच करेगी। इसी प्रकार वह प्रत्येक भारतीय स्थापित स्वार्थ की जाँच करेगी—फिर चाहे वह जिस प्रकार, अवधि और काल्पनिक पवित्रता का स्वार्थ हो। जन-हित ही इस न्याय की कसौटी होगा। तिस पर कांग्रेस ने अपनी सहानुभूतियों को कभी गुप्त नहीं रखा। जो स्वार्थ भारत की सर्व-सामान्य जनता के हितों के विरुद्ध हैं उन्हें मिटना ही होगा। गांधी के पथ-प्रदर्शन में स्वराज की जिस योजना की उसने कल्पना की है उसमें इसके सिवा दूसरी कसौटी के लिए स्थान नहीं है। हर स्वार्थ को कोटि-कोटि श्रमिक भूखी जनता की भलाई के अनुकूल अपने को ढालना ही पड़ेगा। इसी तथ्य के कारण बहुतेरे देशी स्थापित स्वार्थ कांग्रेस से आँख मिलाने में झेंपते हैं।

यद्यपि कांग्रेस इन सब बातों में विश्वास रखती है पर साथ ही सम्पत्ति की ज़ब्ती के सम्बन्ध में असंयत और अनुत्तरदायी बातों को निरुत्साहित भी करती है। उदाहरण के लिए वह व्यक्तिगत काश्तकारों या काश्तकारों के दल-द्वारा ज़मीन पर अधिकार कर लेने को सहन न करेगी। इसी प्रकार यदि वह सार्वजनिक कल्याण का संरक्षक होने के अपने दावे और अपनी नामवरी की रक्षा करना चाहती है तो मिल के मजूरों द्वारा किसी मिल पर क़ब्ज़ा किये जाने को वह बर्दाश्त न करेगी। अतीत काल में, क्रान्तियों में,

यह सब हुआ है जिसका स्थायी या अस्थायी परिणाम उन राष्ट्रों के लिए इतना भयावह हुआ कि उनके बुरे असर को दूर करने में उन्हें वर्षों तक कष्ट और त्याग का जीवन बिताना पड़ा, वर्षों तक उन्हें हर तरह की अव्यवस्था सहन करनी पड़ी। इसलिए भारतीय राष्ट्र और भारतीय कांग्रेस का जल्दी की असंयत बातों को उत्तेजन न देने का निर्णय उचित ही है। ऐसी असंयत बातों से किसान और मजूर के मन में झूठी राजनीतिक और आर्थिक धारणाएँ और आशाएँ उत्पन्न होंगी। सम्पूर्ण सुघटित समाजों में राजनीतिक और कानूनी अधिकार दूषणों और गलतियों के निराकरण का कोई न कोई क्रम निश्चित कर लेते हैं। इन गलतियों को दूर करने का कार्य व्यक्तिगत, असंघटित, अव्यवस्थित और अज्ञानपूर्ण प्रयत्नों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। उसके लिए कोई ढंग, कोई प्रणाली होनी चाहिए। इसीलिए कांग्रेस ने विधान परिषद् की धारणा को स्वीकार किया और बढ़ाया।

—१९३४, बम्बई के खुले अधिवेशन में]

: १० :

कांग्रेस और समाजवाद

हमें झुड़क कर कहा जाता है कि "जैसा हर स्कूली विद्यार्थी को जानना चाहिए, समाजवाद एक ऐसी आर्थिक उपपत्ति (थियरी) है जो संसार को परीशान करनेवाली समस्याओं को समझने और हल करने का प्रयत्न करती है।"* पर एक स्कूली बालक इन निर्दोष से दिखने वाले शब्दों का

---

*इस लेख के सब उद्धृतांश पं० जवाहर लाल के (१९३६ में लिखे) लेख से लिये गये हैं।

पूरा तात्पर्य समझे बिना भी परिभाषा जान सकता है। परिभाषा दो बातों में से एक की ओर निर्देश करती है; या तो (१) हमारे इस छोटे विश्व को परेशान करनेवाली सभी समस्याएँ आर्थिक हैं और सिर्फ आर्थिक सम्बन्धों के कारण पैदा होती हैं, या (२) मानवीय समस्याएँ भी हैं, जो यद्यपि हमारे आर्थिक सम्बन्धों से कमोबेश प्रभावित होती हैं पर उनकी सीमा पार कर जाती हैं और अपेक्षाकृत अलग अपनी स्थिति रखती हैं तथा शुद्ध आर्थिक समाधान की अपेक्षा दूसरे हल चाहती हैं।

पहले मामले में, सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्ध, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, समाज के आर्थिक ढाँचा (निर्माण) के परिणाम हैं। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की तो बात ही क्या, सम्पूर्ण भौतिक, बौद्धिक, नैतिक और कलागत मूल्य आर्थिक शक्तियों-द्वारा नियंत्रित होते हैं। अगर यह बात सही है तो समाजवाद कोरा आर्थिक सिद्धान्त नहीं रह जाता बल्कि सब प्रकार के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित विचार और कार्य की एक दार्शनिक प्रणाली का रूप ग्रहण कर लेता है। इस हैसियत से मानवता द्वारा अब तक ग्रहण किये हुए आधारभूत मूल्यों का पुनर्मूल्याङ्कन करना उसके लिए आवश्यक है। दूसरा निर्देश लें और यह मानें कि संसार की समस्याएँ न तो शुद्ध आर्थिक हैं, न अर्थ-प्रधान हैं तो समाजवाद केवल एक आर्थिक उपपत्ति बन जाता है। तब मानवजीवन और कार्य के एक अंश मात्र से फिर चाहे वह अंश कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, उसका सम्बन्ध आता है जिसका प्रभाव जीवन के अन्य सम्बन्धित क्षेत्रों में भी पड़ता है। तब वह एक जीवन-दर्शन होने का दावा नहीं कर सकता, न वह संसार को परेशान करनेवाली सम्पूर्ण बुराइयों का समाधान ही उपस्थित कर सकता है। उस हालत में आधारभूत मूल्यों का बदला जाना या बहुत अधिक प्रभावित होना आवश्यक नहीं है; हाँ, विकास के अदृश्य क्रम से उनमें परिवर्तन हो सकता है।

इसलिए चिन्तन को स्पष्ट करने और कार्य को विवेकसम्मत बनाने के लिए एक सच्चा जिज्ञासु यह पूछने की हिम्मत कर सकता है कि अमुक

समाजवादी इन दो दृष्टिकोणों में से किसे ग्रहण करता है। अगर यह स्पष्ट नहीं कर दिया गया तो इससे भ्रम और गड़बड़ी हो सकती है। उस हालत में यदि उसके छाप के समाजवाद को कुछ दूसरे प्रकार का समझ लिया जाय तो समाजवादी शिकायत नहीं कर सकता।

फिर अगर कोई उपपत्ति—'थियरी'—संसार को परीशान करनेवाली 'कुछ' नहीं बल्कि सभी समस्याओं को हल करने का दावा करती है या यदि वह 'सामाजिक पुनर्गठन' का लक्ष्य रखती है, और पुनः यदि उसकी 'पक्के मार्क्सवादी' है और अपने साथ वह सुपरिभाषित और स्वीकृत 'वैज्ञानिक' विशेषण लगाती है तो उससे यही स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जिसे प्रचलित मत या कट्टरपंथ विशुद्ध वा मुख्यतः आर्थिक मूल्य मानता है वही नहीं बल्कि सभी प्रकार के मूल्य और सम्पूर्ण जीवन ही ढलाई पात्र में उबल रहा है। सम्पूर्ण मानवजीवन का परीक्षण हो रहा है, और पृथ्वी पर एक नई ज़मीन और नया आसमान (निश्चय ही ऐतिहासिक भविष्य में) उत्पन्न करने की चेष्टा हो रही है। बोल्शेविकों की ओर और उनके द्वारा ठीक यही दावा किया जाता है। उन्होंने मानव चिन्तन और कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी है। व्यक्तिगत और कौटुम्बिक सम्बन्ध, सन्तानोत्पादन और शिशु-संवर्द्धन, अध्यापन और शिक्षण, कला और विज्ञान, साहित्य और दर्शन, नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक धारणाएं और सम्बन्ध, सभी बदल गये हैं। न केवल प्राचीन व्यवस्था बल्कि सभी प्राचीन मूल्य भी पूरी तौर पर उलट-पलट गये हैं। बिल्कुल नवीन मनोविज्ञान के साथ एक नूतन मानव-मन के निर्माण का उपक्रम चल रहा है।

वैज्ञानिक समाजवाद के नाम पर किये जाने वाले ये सब दावे अगर सही हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ लोग जिनकी निष्ठा एकदम से नष्ट नहीं हो गई है, आशंका से भर उठते हैं। वे उसकी प्रसंग-वश चर्चा से नहीं बल्कि जिस ज़ोरदार ढंग से और मानव-जाति के कष्टों के एकमात्र समाधान के रूप में समाजवाद और विशेषतः उसके एक विशेष रूप

को देश के सामने बार-बार उपस्थित किया जाता है उसके कारण आशंकित होते हैं। इतना ही नहीं, कहा जाता है कि ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण वह—समाजवाद—हम पर आरोपित है और जो उसकी आवश्यकता और अनिवार्यता का अनुभव नहीं करते, वे पुराणपंथी और प्रतिक्रियावादी हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में और दूसरे देशों में भी समाजवाद पर आक्रमण करनेवालों में से बहुत से लोग सामाजिक और राजनीतिक प्रतिक्रियावादी हैं। वे स्थापित स्वार्थों के चेतन अथवा अचेत, सहायताप्राप्त वा अवैतनिक, एजेंट हैं। वे न केवल समाजवाद के विरुद्ध हैं बल्कि उन सब सुधारों के विरुद्ध हैं जो पृथ्वी के दीन-हीन शोषित जनों के साथ किसी सीमा तक न्याय करने के लिए उपस्थित किया जाता है।

पर आलोचकों की इन दोनों श्रेणियों को एक समझ लेना सुधारक और प्रतिक्रियावादी मित्र और शत्रु को एक मान लेने—जैसा है। इस प्रकार का भ्रम व्यर्थ ही उन लोगों को दुर्बल कर देगा जो न्याय और स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं।

× × ×

"यह स्पष्ट है कि हमें राजनीतिक प्रश्न, भारतीय स्वतंत्रता, पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए.........तब यह समाजवाद की बात क्यों? ...समाजवादी दृष्टिकोण राजनीतिक युद्ध में सहायक होता है।....यह हमें अनुभव कराता है कि (सामाजिक विषयों के अलावा भी) स्वतंत्रता के असली राजनीतिक तत्त्व क्या होने चाहिएँ।"

यह ठीक है कि समाजवादी दृष्टिकोण स्वतंत्रता के राजनीतिक तत्त्वों का अनुभव करने में हमारी सहायता करता है। पर नम्रतापूर्वक यह बात कही जा सकती है कि समाजवादी दृष्टिकोण और समाजवाद एक ही चीज़ नहीं हैं। समाजवादी दृष्टिकोण सब समस्याएँ हल करने का दावा नहीं करता। वह समाजवाद द्वारा प्रभावित है पर अपने को वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से नहीं पुकारता, न वह आवश्यक रूप से मार्क्स का अनुगमन करता है।

संभव है, उसे मार्क्स तथा उसके साथियों से स्फूर्ति प्राप्त हुई हो, संभव है वह वैज्ञानिक-समाजशास्त्रीय तथा आर्थिक अध्ययन पर आश्रित हो पर वह किसी खास प्रकार का समाजवाद नहीं है। उसमें सुधारकता है। वह किसी व्यक्ति या समूह के सम्पूर्ण जीवन को नियंत्रित करने का दावा नहीं करता। वह मुख्यतः और प्रधानतः व्यक्तियों के आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन पैदा करता है। इसीलिए अनेक स्थानों पर वह पुराणपंथी दलों एवं सरकारों द्वारा भी अपनाया गया है। यदि समाजवादी दृष्टिकोण का यही अभिप्राय है तो मेरा कहना है कि वह कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों में निहित है। इसके लिए गोलमेज़ परिषद में गांधी जी के भाषण के अंतिम वाक्यों को उद्धृत कर देना[1] या १९२४ के ग्रीष्म में भारतीय कांग्रेस-कमेटी के बम्बई अधिवेशन में पास प्रस्ताव[2] की ओर इशारा कर देना मात्र काफ़ी है।..........

1. "इन सब के ऊपर कांग्रेस, तत्त्व रूप में, देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए सात लाख गाँवों में बसे कोटि कोटि मूक और अधभूखे प्राणियों का प्रतिनिधित्व करती है—फिर चाहे वे ब्रिटिश भारत के हों या देशी राज्यों के। कांग्रेस की राय है कि जिस भी स्वार्थ को संरक्षण दिया जाय उसे इस कोटि-कोटि जनता के हितों के नियंत्रण में चलना होगा। इसीलिए आप कभी-कभी विभिन्न हितों में संघर्ष होता देखते हैं। और अगर कोई सच्चा संघर्ष उपस्थित हुआ तो मुझे कांग्रेस के नाम पर यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं कि कांग्रेस इन कोटि-कोटि मूक प्राणियों के हितों की रक्षा के लिए किसी भी हित और स्वार्थ की बलि दे देगी।"

२. "इस कमेटी की राय में भारतीय जनता की भीषण गरीबी और अभाव का कारण केवल भारत का विदेशी शोषण ही नहीं है बल्कि समाज की वह अर्थ-व्यवस्था भी है जिसका समर्थन विदेशी शासक इसलिए करते हैं कि उनका शोषण जारी रहे। इसलिए

१९२९ के प्रस्ताव में 'वर्तमान आर्थिक तथा सामाजिक निर्माण की भीषण विषमताओं के दूर करनेवाले क्रांतिकारी परिवर्तनों' की बात कही गई है। इस प्रस्ताव को पास करने के कारण "यह कहना कि कांग्रेस समाजवादी हो गई है, वाहियात बात है।" यह बिल्कुल सच है। पर यदि यह सच है तो अपने परिणाम एवं गुण-व्यंजक तत्वों में समाजवाद कुछ दूसरा ही पदार्थ होगा। यही समाजवाद है जिसके कारण हमारी सेना के टुकड़े हो जाने और उस राजनीतिक प्रश्न से हमारा ध्यान हट जाने की संभावना है जिस पर कांग्रेस और गांधी जी बराबर ज़ोर देते रहे हैं। पर इसका मतलब समाजवाद का तख़मीना लगाना नहीं है। इसका मतलब इतना ही है कि फ़िलहाल कांग्रेस ने कुछ ऐसे प्रस्ताव और सुधार हमारे सामने रखे हैं जिन्हें 'समाजवादी' कहा जाने लगा है पर जिनका कथित समाजवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। आज वह मुख्यतः राजनीतिक प्रश्न को हल करने का प्रयत्न करती और उसी पर ज़ोर देती है। वह आर्थिक सुधार की उपेक्षा नहीं करती। पर उसने आर्थिक जीवन का नियंत्रण करने वाले समाजवादी सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया है। राजनीतिक लड़ाई के खात्मे के बाद कांग्रेस क्या करेगी, यह भी उसने विधान परिषद वाली बात स्वीकार करके स्पष्ट कर दिया है।

× × ×

……यह आवश्यक नहीं कि हम मार्क्स की महानता या सामाजिक व्यापार-सम्बन्धी खोज में इतिहास के प्रति उसकी व्याख्या-विधि की श्रेष्ठता से इन्कार करें। हम मार्क्स और उसके जीवन-कार्य की प्रशंसा, उसके सम्पूर्ण निष्कर्षों को माने बिना भी, कर सकते हैं। विज्ञान सत्य के शोध

इस गरीबी और अभाव को दूर करने और भारतीय जन-समूह की अवस्था सुधारने के उद्देश्य से समाज के आर्थिक और सामाजिक निर्माण में क्रांतिकारी परिवर्तन करना और गहरी विषमताओं का निराकरण करना आवश्यक है।"

की विधि या क्रम है। उस क्रम के परिणाम भी उसके अन्तर्गत हैं। एक आदमी शोध की विधि-विशेष या क्रम-विशेष को सही मानता है तो उसके लिए आवश्यक नहीं कि एक विशेष शोधक उस विधि से जिन परिणामों पर पहुँचा है उन सब को भी वह ठीक मान ले। भौतिक विज्ञान के सभी क्षेत्रों में यह बात सत्य है। पर सामाजिक विज्ञानों में यह और भी सत्य है क्योंकि उनमें शोध के क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत हैं और शोधक की इच्छानुसार प्रयोग न किये जा सकते हैं, न उन्हें बहुत ज्यादा बढ़ाया ही जा सकता है। फिर बाधक और विशेष कारण भी असंख्य होते हैं। न्यूटन और आइंस्टीन दोनों ने एक ही वैज्ञानिक विधि या ढंग का अवलम्बन लिया, फिर भी दोनों के निष्कर्षों में कैसी गहरी असमानता—कितना गहरा अन्तर है! इससे विधि या ढंग की ग़लती नहीं सिद्ध होती। इससे इतना ही मालूम होता है कि समय, स्थिति तथा मानव ज्ञान की अवस्था शोधक के प्रयोग को मर्यादित, सीमित, कर देती है। जब विशुद्ध विज्ञानों का यह हाल है तब सामाजिक विज्ञानों का क्या हाल होगा जो स्वतंत्र संकल्प शक्ति से पूर्ण मानवों के बारे में शोध करता है।

पुराकाल में कितने ही प्रवक्ताओं—नबियों—और सुधारकों ने अपनी पीढ़ियों की विचार-परम्परा को क्रांतिकारी देन दी है। पर उनके कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को, जिनके बारे में उन्हें तथा उनके अनुयायियों को कोई भ्रम या शंका न थी और जिनकी रक्षा के लिए उनके अनुयायी न केवल दूसरों के गले काट लेने को तैयार रहते थे बल्कि उस सत्य की सेवा के लिए राजी-खुशी से अपने जीवन की बलि देने को भी तैयार रहते थे, आज न केवल मानव जाति बल्कि उन्हीं के बादवाले अनुयायी बहुत बदले रूप में स्वीकार करते हैं। इससे उनकी महत्ता और श्रेष्ठता में कोई कमी नहीं आती। इसलिए विचारवान व्यक्तियों के लिये यह ज़रूरी नहीं कि मार्क्स और लेनिन को श्रेष्ठ मानें तो उनके सम्पूर्ण निष्कर्षों को भी स्वीकार करें। बिना किसी मत में दीक्षित हुए भी हम उसकी प्रशंसा कर सकते हैं। अकस्मात्, ज्ञान और शोध के क्षेत्र का

अन्त नहीं हो गया है। प्रत्येक नये शोध के साथ स्वभावतः क्षेत्र विस्तृत होता गया है। जैसे धर्म में वैसे ही राजनीति में भी कट्टरता की निंदा करनी चाहिए—बल्कि राजनीति में तो इसकी आवश्यकता और अधिक है क्योंकि धर्म में जो नम्रता तथा आत्मार्पण की भावना है उसके कारण अपने अनुयायियों पर उसका नियंत्रण भी रहता है।

—जुलाई, १९३६]

: ११ :

गांधीवाद क्या चाहता है?

आखिर गांधीवाद क्या है? यानी गांधी का ध्येय और उसके आदर्श क्या हैं? इतिहास के नाटक में वह कौन सी भूमिका का अभिनय कर रहा है? संसार के इतिहास में उसका क्या स्थान है? वह आज किन सवालों को हल करना चाहता है। दुनिया आज किस मर्ज़ से परीशान है जिसकी दवा बापू करना चाहता है।

संसार में दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ काम कर रही हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरी आधिभौतिक। इनका संघर्ष बहुत पुराना है। आज वह ज़माना है, कि अगर मेरे-जैसा आदमी परमार्थिक बन जाय तो *शंकरलाल—जैसा व्यवहारज्ञ उसे एक मिनट में बेवकूफ़ बना सकता है। यह हुआ, एक झगड़ा। दूसरा भी ऐसा ही विकट झगड़ा है। हम व्यक्ति को आगे बढ़ायें या समूह को? व्यष्टि श्रेष्ठ है या

---

*श्री शंकरलाल बैंकर (जो उस समय चर्खासंघ के मंत्री थे) से अभिप्राय है।

—संपादक।

समष्टि ? आज तक हमारे समाज में ऐसा ही हुआ। हमने कुछ समय तक व्यक्ति को आगे बढ़ाया जिससे समष्टि की हानि हुई। फिर कुटुम्ब को सामुदायिक घटक बनाया, जिससे व्यक्ति मर गया। पश्चिम में 'लेसे फेर' के सिद्धान्त ने व्यक्तिवाद को बेहद चढ़ाया। और अब बोल्शेविज़म समष्टिवाद का अन्तिम छोर गाँठने जा रहा है। व्यक्तिगत सदाचार और समष्टिगत सदाचार में विरोध माना जाता है। साध्य-साधन में विरोध, मनुष्य और यंत्र में विरोध, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध। इस तरह जिधर देखिए, सिवा विरोध के कुछ नज़र नहीं आता। इनके मारे संसार का गला घुट रहा है। इन विरोधों का परिहार कैसे हो ? यह दुनिया का सबसे बड़ा सवाल है। इस सवाल को और इसके जवाब को हम अच्छी तरह समझ लेंगे, तब पता चलेगा कि रचनात्मक कार्य और राजनीति का क्या सम्बन्ध है ?

इस सवाल को हल करने का एक तरीका तो यह है कि दो विरोधी सत्वों में से एक को खतम कर दें, यानी व्यक्ति को समाप्त कर दें या समाज को, जैसा बोल्शेविज़म कहता है। वह सामुदायिक या संघनीति को मानता है। लेकिन इस तरीके से व्यक्ति का विकास नहीं होगा। और न समष्टि की हस्ती ही कायम रहेगी।

दूसरा तरीका है इन दोनों का समन्वय; वैयक्तिक नीति और सांघिक नीति का सामञ्जस्य। एक को खतम करने का तरीका है तो सरल, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया होगी वैयक्तिक या सामाजिक व्यापारों का बिल्कुल बन्द हो जाना। बापू का तरीका समन्वय का तरीका है; जो हमारी गीता में है। वह है दोनों का मेल बैठाना। आध्यात्मिक और आधिभौतिक जीवन का सामञ्जस्य बापू का मार्ग है। इसीलिए उस दिन उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि जब तक मैं समाज को मोक्ष नहीं दिला सकता, मुझे अपने लिए मोक्ष की दरकार नहीं है। नतीजा यह है कि गांधी व्यक्तिगत नीतिमत्ता और समाज की नीतिमत्ता का अविरोध सिद्ध करना चाहता है। साध्य और साधन का ऐक्य साधना चाहता है। बोल्शेविज़म सिर्फ साध्य

पर ज़ोर देता है। वह सत्य के एक ही भाग का विचार करता है। उसने मूल्यों की एक पूरी परिपाटी को नष्ट कर दिया है। बापू का कहना है कि हमें तो इन परस्पर-विरोधी मूल्यों का समन्वय करना है। यह समन्वय कैसे हो? बापू के पास दो औज़ार हैं—सत्य और अहिंसा। इनके ज़रिये वह श्रम और संपत्ति, सत्ता और स्वातंत्र्य, केन्द्रीकरण और विभाजन के विरोध का परिहार करना चाहता है। अगर कोई बापू का यह ध्येय मानता है तो बतलाइए वह राजनीति से कैसे दूर रह सकता है? अगर वह एक कोने में बैठकर रामनाम जपता हुआ तकली चलाता रहे तो यह तो पहले भी संन्यासी किया करते थे। बापू ने अगर राजकीय क्षेत्र को छोड़ दिया तो उसकी ऐतिहासिक भूमिका समाप्त हो जायगी। वह हमें कुछ आत्मविद्या सिखाने नहीं आया है। उसके लिए आज गुंजाइश नहीं है। हम अगर सामाजिक जीवन को छोड़ दें, तो उसमें हमारे पुरखों की गलती का ही अनुकरण होगा। वे कहते थे, दुनिया बुरी है, दुष्ट है; भाई, गुफा में माला लेकर बैठो। आज माला की जगह तकली या चर्खे ने ले ली तो कौन बड़ी बात हो गई! जो राजकारण (राजनीति) से भागते हैं, वे बापू के जीवन-कार्य को नहीं समझते। वे नहीं जानते कि बुद्ध, महावीर और ईसा की अहिंसा को बापू कैसे विकसित करना चाहता है। हम अगर अपना एक छोटा-सा फ़िर्क़ा बना लेंगे, दुनिया की झंझटों से भाग खड़े होंगे तो सँकरे और कुटिल दिलवाले, इतिहास-विमुख, कल्पनाशून्य, धर्मान्ध और तत्त्वान्ध बन जावेंगे। बापू का जीवनोद्देश विरोधी शक्तियों का, सत्य और अहिंसा के साधनों से, समन्वय साधना है। यह हमें मजबूर करता है कि हम राजकीय मैदान में कूद पड़ें। बापू की साधना वैयक्तिक होती, तो उसे इससे सन्तोष हो जाता कि वह खुद हरिजनों से नफ़रत नहीं करता और जगन्नाथ के मन्दिर में नहीं जाता। लेकिन इतने से ही उसे तसल्ली नहीं है। वह हैरान है कि दूसरे क्यों जाते हैं? आपसे यह निश्चयपूर्वक कह दूँ कि विरोधी शक्तियों का सामञ्जस्य बिना सत्य और अहिंसा के हो ही नहीं सकता। यह राजकीय क्षेत्र से भाग कर नहीं होगा।

सिर्फ रामनाम वाले और चर्खा-तकली वाले बापू के सच्चे अनुयायी नहीं हैं। सच्चे अनुयायी वे हैं जो रचनात्मक और प्रतिकारात्मक दोनों क्षेत्रों में काम करते हैं।.......अगर आप राजकीय क्षेत्र को छोड़ देंगे तो अपने आपको खतरे में डालेंगे; बापू के जीवनकार्य और तत्त्वज्ञान को खतरे में डालेंगे।

—३० । ३ । '४८ डेलांग, उड़ीसा]

[गांधी सेवा संघ के सदस्यों के सामने यह प्रश्न था कि उन्हें क्रियात्मक राजनीति में भाग लेना चाहिए या केवल रचनात्मक कार्यों तक अपने को मर्यादित रखना चाहिए। इसी चर्चा में आचार्य कृपलानी ने अपने उक्त विचार प्रकट किये थे।—संपादक]

: १२ :

युरोप का यह दूसरा आक्रमण !

मैं उन लोगों में से हूँ जिन्हें जवाहरलाल जी अंधभक्त कहते हैं। लेकिन मैं इसे अंधभक्ति नहीं समझता। जब मेरी तबीअत खराब हो जाती है तो कोई एम० डी० बी० एस, या एल० एम० एंड एस० डाक्टर कहता है वैसा करना पड़ता है। उसका अंधभक्त बनना पड़ता है। मैं मानता हूँ कि अगर मरना भी है तो किसी बेवकूफ के हाथ से न मरूँ; शिक्षित डाक्टर के हाथ से मरूँ जिससे मरने पर दुनिया मुझे बेवकूफ न कहे। अगर घर बनवाना होता है तो किसी इंजीनियर (स्थापत्यशास्त्री) के पास जाता हूँ। सोचता हूँ कि घर टेढ़ा भी हो जाय तो किसी इंजीनियर के हाथ से हो, नहीं तो मूर्ख कहलाऊँगा। उसी तरह देश के राजनैतिक कामों में भी ऐसे लोगों को मानता हूँ जो इसके विशेषज्ञ हैं। मुझसे

कोई कहे कि जो लोग कभी देहात में गये ही नहीं उनकी बात हिन्दुस्तान की आर्थिक योजना के बारे में मानो, तो मैं कैसे मान सकता हूँ ? जो उसका जानकार है उसी के पीछे चलना मैंने सीखा है।

कुछ लोग कहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर नज़र रखनी चाहिए। मुझे इनकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति की बातें सुनकर हँसी आती है। दूसरी सारी बातें सीखने के लिए तो न जाने कितना खर्च कर डालते हैं लेकिन कहीं 'स्टेट्समन' में या दूसरे किसी अखबार में दो-चार लेख पढ़ लिये तो अपने को अन्तर्राष्ट्रीय नीति के विशेषज्ञ समझने लगते हैं। वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का यह हाल है कि कहाँ क्या हो रहा है इसका ठीक-ठीक पता ही नहीं चलता। इंग्लैंड का प्रधान मंत्री चेकोस्लोवाकिया के बारे में आज एक कहता है तो कल कुछ और ही। हमें अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का ठीक-ठीक हाल नहीं मालूम होता।

यहाँ हमारे देहातियों को तो यह भी नहीं मालूम कि हमारा मुल्क कितना बड़ा है। मुझसे पूछते हैं कि तुम कहाँ के रहने वाले हो, तो मैं जवाब देता हूँ कि सिंध का। वे बेचारे जानते ही नहीं कि सिंध कहाँ है ? मेरी तरफ़ देखते रह जाते हैं। इसलिए आजकल तो यही कह देता हूँ कि बनारस का रहने वाला हूँ। बनारस पुराना तीर्थ-स्थान है इसलिए उन्होंने उसका नाम सुना है। जो लोग सिंध नहीं जानते वे लोग क्या जानें कि कहाँ टिम्बक्टू है, कहाँ चेकोस्लोवाकिया और कहाँ पेरू है।

राजनीति के भी विशेषज्ञ हुआ करते हैं। उसमें भी एक विशेष प्रकार की बुद्धि और नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। सिर्फ पच्चीस आदमियों के एक साथ मिलकर विचार करने से राजनीतिज्ञ की दृष्टि नहीं आ जाती। पच्चीस गधों के दिमाग़ से एक आदमी का दिमाग़ नहीं बन जाता। सौ बेवकूफ़ों का एक अक्लमन्द नहीं होता। जो अक्लमन्द है उसका मानना ही लोकशाही है। शर्त इतनी ही कि उसमें कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती न हो। इसीलिए बापू कहता है कि लोकशाही (प्राजातंत्र) का सार

अहिंसा है। जहाँ हिंसा होती है वहाँ लोकशाही नहीं होती। हमारा दावा है कि लोकशाही हिन्दुस्तान में ही है; दुनिया में और कहीं नहीं। लेकिन बेवकूफ़ों के सिर गिनते रहने से काम नहीं चलेगा। उनके सिरों की आजकल कोई परवा भी नहीं करता। सिर्फ़ हाथ गिन लेते हैं। इस तरह से हाथ गिनकर काम करते तो महात्मा जी ने जो किया वह कभी नहीं हो सकता। न सविनय भंग होता, न असहयोग या सत्याग्रह होता। दुनिया में सभी काम केवल वोटों से नहीं चलते। ऐसी अजीब लोकशाही केवल हिन्दुस्तान में हम चलाना चाहते हैं। इंग्लैंड में जंग करना है या नहीं, यह प्रधान मंत्री तय कर लेता है। तब पार्लमेंट बुलाई जाती है। हमारे यहाँ हम चाहते हैं कि एक हज़ार सिर वाला राक्षस, जिसमें न कोई अनुशासन न अक्ल है, इन बातों को तय करे। इस तरह लोकशाही नहीं चलती। डा० खरे का मामला आया तब यह चिल्लाहट हुई कि लोग उसका निर्णय दें। यह लोकशाही नहीं है। लोकशाही में लोगों को अपना नेता चुनने का अधिकार है। उसकी अमलदारी में लोगों को उसका साथ देना चाहिए। अगर इस तरह चुना हुआ कोई नेता लोकशाही का गला घोंट दे तो दूसरे चुनाव में उसे निकाल बाहर कर देना चाहिए। उसकी जगह दूसरा नेता चुन लेना चाहिए। यह लोकशाही है। लेकिन यहाँ तो लोकशाही के नाम पर तीन महीने तक काँग्रेस की कार्य-समिति ही नहीं थी।* यह कहाँ की लोकशाही है?

---

* त्रिपुरी काँग्रेस के बाद श्री सुभाष और गांधी जी में जो मतभेद हुआ, उसके कारण गांधी जी की नीति में विश्वास रखने वाले काँग्रेस कार्य-समिति के सदस्य समिति से अलग होने को तैयार हुए। कई मास तक कोई समिति नहीं बन सकी। उसी की ओर इशारा है।

—संपादक।

इसका मतलब यह है कि हम कोई ठोस काम नहीं चाहते। सिर्फ़ हल्ला मचाना चाहते है। इस तरह कोई काम नहीं हो सकता। क्रान्ति का यह तरीका नहीं है। क्रान्ति का तरीका यह है कि जो लोग चुने जाते हैं वे कहते हैं कि हम प्रतिनिधि हैं; हम राष्ट्र हैं। जो कोई उनकी बात नहीं मानता उसका गला काट देते हैं। क्रान्ति ऐसे ही होती है। हमारे यहाँ गला काटने की बात नहीं है। फिर भी ऐसा तो नहीं कि हम बुरे आदमियों को न हटावें। अहिंसा में भी गिलोटाइन होनी चाहिए। जिन्हें राष्ट्र की नीति मान्य न हो उन्हें निकल जाना चाहिए। अहिंसा का अर्थ यह तो नहीं है कि कोई नीति ही न हो या कोई अनुशासन न हो। जहाँ थोड़ी सी अनुशासन की बात आई कि लोग चिल्लाने लगते हैं कि 'खरे नरीमांड' (खरे के साथ नरीमान की तरह व्यवहार किया गया), 'नरीमान खरेड' (नरीमान को खरे की तरह बर्ता गया) और सभाष बोस खरेमांड। बापू की अहिंसा ऐसी नहीं है। हाँ, वे इतना कर सकते हैं कि अगर नीति मान्य न हो तो खुद हट जायँगे। लेकिन हमारे देश में तो अजीब हाल है। न तो उनको निकलने देंगे, न उनकी बात मानेंगे। हम तो रोटा खाना चाहते हैं और रखना चाहते हैं। हम तो कहते हैं कि आप हमें काँग्रेस से निकाल दें, आप अपना वर्किंग कमेटी बनाइए। आप वह भी न करेंगे और यह भी न करेंगे। न इधर चलेंगे, न उधर। सिंध में ऊँट जब पानी देखता है तो वहीं अड़ जाता है। न आगे चलता है, न पीछे। वही हाल यहाँ है। आप हमारी नीति को नहीं मानेंगे और हमें भला-बुरा भी कहेंगे। और फिर हमसे कहेंगे कि आप हमारी कार्यसमिति में आवें।..........

हम तो समझते हैं कि गांधी जी नीति से ही देश का उद्धार होगा। हमारे भी अपने ये ही सिद्धान्त हैं। आप समझते हैं कि अब गांधी जी की नीति से काम न चलेगा। और आप यह भी मानते हैं कि देश आपके साथ है। तो बस, हमारा इतना ही कहना है कि हमें निकल जाने दीजिए। लेकिन हमारा हट जाना भी कबूल नहीं। वे चाहते हैं

कि हम अपनी नीति को छोड़ कर भी उनके साथ रहें। यह तो कमज़ोरी हुई। ऐसी कमज़ोरी को मैं एकता का चिह्न नहीं समझता। हम अगर अपने सिद्धान्त पर मजबूत रहते हैं तो कोई हानि नहीं पहुँचाते।

मैं समाजवादियों से कहता हूँ कि केवल बातों की लड़ाई से क्या फायदा है? तुम जो कहते हो उस पर बापू अमल करता है। अगर तुम समाजवादी या साम्यवादी समाज देखना चाहते हो, समाजवाद और साम्यवाद का व्यावहारिक प्रयोग देखना चाहते हो चलो साबरमती में, चलो सेगाँव में। आपने तो अभी ऐसा कोई समाज निर्माण नहीं किया है। अगर जीवन-वेतन का क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रत्यक्ष व्यवहार में देखना चाहते हो तो चलो चर्खा संघ में। अगर शिक्षा में लोकसत्ता के सिद्धान्त का विनियोग देखना चाहते हो तो तालीमी संघ में चले जाओ।

युरोप की राजनीति की नक़ल करना गरीबों के फायदे की चीज़ नहीं है। युरोपीय राजनीति का एक संस्करण पहले इस देश में आया था। उस आक्रमण से महात्मा जी ने ही हमें बचाया। अभी एक आक्रमण खतम हुआ ही न था कि दूसरा आ गया। इससे भी हमारी रक्षा गांधी जी ही करेंगे। हम भटक रहे थे, उन्होंने हमें अपने घर पहुँचा दिया। हममें पौरुष पैदा किया। अभी यह काम हो ही रहा है कि हम लगे फिर पाश्चात्य आक्रमण का स्वागत करने, और अपना पौरुष क्षीण करने। मुझे तो हँसी आती है कि जब हम किसी बात को अपनी भाषा में रखते हैं तो वह अवैज्ञानिक कहलाती है, परन्तु हमने उसी को युरोप से उधार लिया हुआ नाम दे दिया तो वही वैज्ञानिक बन जाती है। हमारे समाजवादी मित्र कहते हैं, हड़ताल अवैज्ञानिक है, और जनरल स्ट्राइक वैज्ञानिक है। 'डिसेंट्रलाइजेशन' (विकेंद्रीकरण) कहो तो साइंटिफिक (वैज्ञानिक) है, और ग्राम-उद्योग कहो तो 'बुलक-कार्ट मेंटेलिटी' (बैलगाड़ी की मनोवृत्ति) है। हिन्दुस्तानी नाम से किसी चीज़ को पुकारें तो वह पशु की बुद्धि

पीछे सरकाने के बराबर है। और पश्चिम की बेढंगी नक़ल उतारें तो वह प्रगति हो जाती है।

आज युरोप में भी विकेन्द्रीकरण ज़ोर पकड़ रहा है। पहले सारी सभ्यता भाप के भरोसे थी। आज बिजली आ गई है। अब विकेन्द्रीकरण बड़ी आसानी से हो सकता है। जो यह नहीं जानते वे अभी विक्टोरिया रानी के काल में हैं। अब तक अठारहवीं सदी में रहते हैं। महात्मा जी अगर रामराज्य कहते हैं तो वह बात दक़ियानूसी समझी जाती है। लेकिन 'डिक्टेटरशिप आफ़ दी प्रोलेतरियत' बड़ी वैज्ञानिक चीज़ समझी जाती है। आप भी वर्गहीन समाज चाहते हैं, वह बूढ़ा भी कहता है कि रामराज्य तो श्रमिकों का वर्गहीन समाज ही होगा। हम तो इतने बरस उसके साथ रहे, हमने यही समझा। बुद्धिमान लोग रामराज्य में लोकसंग्रह के वास्ते काम करेंगे। बोल्शेविज़्म भी यही कहता है कि बुद्धि का काम समाज-सेवा के लिए ही होगा। बापू पुरानी हिंदुस्तानी परिभाषा का व्यवहार करते हैं इसलिए वे अवैज्ञानिक समझे जाते हैं। मैंने बापू से कहा कि ज़रा थोड़ी-थोड़ी आधुनिक भाषा सीखो। बापू ने जब बुनियादी तालीम की बात कही तो लोग सोचने लगे, कैसी बेवकूफ़ी की बात है। महात्मा जी को आज की भाषा में एक थीसिस लिखना चाहिए, लेकिन वे आज की भाषा नहीं जानते। वे केवल वर्तमानवादी नहीं हैं; भविष्यदर्शी हैं। केवल आधुनिक शब्द नहीं जानते; ये शब्द तो सब गतकालीन हो गये हैं।

हमने पश्चिम का एक हमला हटाया। उसे हटाना आसान था। क्योंकि वह साम्राज्यवाद के भेष में आया था। लेकिन यह नया हमला विज्ञान, अर्थशास्त्र और भौतिक तर्कशास्त्र के रूप में आया है। परन्तु जड़ जगत् ही तो धीरे-धीरे खिसक रहा है। जड़द्रव्य के परमाणुओं से हम एलेक्ट्रान तक पहुँचे और अब तो केवल प्वाइंट्स आफ़ फोर्स ही बाक़ी रह गये हैं। इस तरह भौतिकवाद का मूल आधार ही खिसकता जा रहा है। उपनिषदों में भी ऐसा एक किस्सा है। शिष्य गुरु से ब्रह्म का

रूप पूछने गया। उसने पहले अन्न ब्रह्म जाना। दूसरा कदम प्राण ब्रह्म का था। तीसरा तपोब्रह्म और फिर आनन्दब्रह्म। पश्चिम अब तक प्राण ब्रह्म तक ही पहुँचा है। अभी तो कई कदम बाकी हैं। अभी बहुत सीखना है। युरोपीय विज्ञान, द्रव्य गतिमय है यहीं तक अभी पहुँचा है। सब कुछ ईश्वर है, इस सिद्धान्त तक पहुँचते-पहुँचते द्रव्य लापता हो जायगा।

इसीलिए बापू कहता है कि असली शक्तियाँ आध्यात्मिक हैं। हमें अपने आदर्शों में श्रद्धा होनी चाहिए। अगर हमारे अन्दर खराब आदमी आ जायँगे तो हमें नुकसान पहुँचेगा। इसलिए मैंने कुछ कड़े शब्दों में अपने विचार पेश किये हैं। मैं कुछ उग्र तबीयत का आदमी हूँ। भाषा भी मेरी उग्र होती है। देहली में जब समाजवादी मित्र बापू के पास आये और मीठी-मीठी बातें करने लगे तो दोनों बहुत खुश हुए। मैं मीठी बातें नहीं कर सकता, इसलिए चुपचाप बैठा रहा। मैंने तो बापू से कहा कि ये समाजवादी मित्र बड़े अहिंसक मालूम होते हैं, आप इन्हीं को अपना शिष्य बना लीजिए।

—वृन्दावन (चम्पारन—बिहार) ता० ८।५।३६]

: १३ :

रचनात्मक क्रान्ति

मुझे यकीन है कि यदि कांग्रेस ने अगस्त १९४२ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की चुनौती स्वीकार न की होती तो आज जो अधिकार हम ग्रहण किये हुए हैं न कर पाते; और न मुस्लिमलीग ही और न अल्पसंख्यक ही उस अधिकार को पा सकते, चाहे कुछ लोग इस बात को भले ही स्वीकार न करें। यह सच है कि हम अभी अपना पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सके हैं। पर हमारे प्रतिनिधियों और नेताओं ने

अधिकार के गढ़ को तोड़ दिया है।.......पर यदि हम अपना पूर्ण स्वराज का ध्येय पूरा भी कर लें तो भी हमें यह न समझना चाहिए कि हमारा काम खतम हो गया। राष्ट्रीय आज़ादी निस्सन्देह कीमती है। वही तो राष्ट्रीय जीवन का श्वास है। पर उसका चाहे कितना भी महत्त्व हो, वह एक नकारात्मक प्राप्ति है, बाहरी ज़ंजीरों को तोड़ना मात्र है। वह बाधाओं की एक बाधा मात्र है। यदि किसी की ज़ंजीर खोल दी जाय तो बहुत संभव है कि वह अपनी इस नई मिली हुई आज़ादी से अपने को चोट पहुँचा ले। यदि हम चतुर हैं तो हम बाहरी बाधाओं को ही दूर करके सन्तोष न कर बैठेंगे, वरं अपने कार्यों को इस प्रकार करेंगे कि प्राप्त आज़ादी से हमारी जनता की कुछ ठोस भलाई हो। इसका मतलब यह है कि हमारा जो क्रान्तिकारी उत्साह है, पुरानी व्यवस्था को तोड़ने के बाद भी रचनात्मक कार्यों में बराबर विकास के भाव भरता रहे। यह रचनात्मक प्रयत्न हमारे लिए कोई नई बात न होगी। हमारा क्रान्तिकारी आन्दोलन, जो अहिंसा पर कायम है, संसार में अनोखा है। आमतौर पर राजनीतिक क्रान्ति का लक्ष्य पुरानी व्यवस्था को तोड़ डालना रहा है। उसकी सारी योजनाएँ सत्ता पर अधिकार करने की रही हैं। राष्ट्रीय जीवन को नये सिरे से ढालने के सारे प्रयत्न पुरानी व्यवस्था को नष्ट कर सत्ता प्राप्त करने के बाद ही किये गये हैं। इस तरीके की वजह से स्थिति सँभली और रचनात्मक कार्य आरंभ होने के पहले एक नहीं, कई बार क्रान्ति करनी पड़ी है। कभी-कभी तो इसके परिणाम-स्वरूप गृहयुद्ध हुआ है और अन्त में उसका नतीजा अधिनायकवाद हुआ है। गृहयुद्ध और अधिनायकवाद दोनों में ही क्रान्ति के उद्देश्य को पराजित करने की भावना होती है। फ्रांस और रूस की क्रान्तियों में यही हुआ है।

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस, अकेले विनाश या सत्ता-प्राप्ति पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देने से बचती रही है। इसके विरुद्ध वह रचनात्मक कार्यों पर अधिक ज़ोर देती रही है। उसके विनाशक और रचनात्मक

काम पिछले २६ वर्षों से साथ साथ चलते रहे हैं। और गांधी जी के लिए तो सत्याग्रह की प्रभावशाली तैयारी का एक मात्र अर्थ रचनात्मक कार्यक्रम की पूर्ति ही रहा है। आज जब अनेक प्रान्तों का शासनाधिकार कांग्रेसजनों के हाथ में है और केन्द्र में भी किसी न किसी प्रकार की राष्ट्रीय सरकार है तो गांधी जी द्वारा बनाये गये और कांग्रेस द्वारा स्वीकृत रचनात्मक कार्यक्रम को ज़ोरों के साथ चलाने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए।

लोकतंत्रवाद और अहिंसा

ज्यों-ज्यों हमारा राष्ट्रीय संग्राम आगे बढ़ता गया है, स्वराज का मतलब अधिकाधिक साफ़ होता गया है। बहुत दिनों पूर्व हमने केवल विनाश और सत्तारोहण के कौशल के विरुद्ध निश्चय किया था। इसीलिए हमने पिस्तौल और बम के प्रयोग को नापसंद किया। हमने निश्चय किया कि हमारी क्रान्ति एक खुला षड्यंत्र हो, जिसमें जनसमूह अधिकाधिक शरीक हो सके। इसलिए अनिवार्य रूप से वह अहिंसात्मक हो और गुप्त न हो। जनता-द्वारा अहिंसात्मक ढंग पर की गई क्रान्ति में लोकतंत्रवाद निहित होता है।.........सच्ची बात तो यह है कि यदि लोकतंत्रवाद को केवल दिखावटी और संस्थात्मक न बन कर वास्तविक और प्रभावकारी बनना है तो उसका आधार अहिंसा होना चाहिए। और अहिंसा, यदि वह ज़बानी नहीं है, तो निस्सन्देह लोकतंत्र की ओर ले जायगी। अहिंसा और अधिनायकवाद परस्पर-विरोधी हैं।...... इसलिए यह बात साफ़ हो जानी चाहिए कि हम राजनीतिक लोकतंत्रवाद के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं और हमारा स्वराज्य लोकतंत्रात्मक होगा। वह किसी व्यक्ति या परिवार का, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, शासन न होगा; न वह किसी जाति, धर्म या वर्ग के अधीन होगा। वह जनता के लिए, जनता-द्वारा शासित जनता का राज्य होगा।

हमने यह देख लिया है कि सारे संसार में राजनीतिक लोकतंत्र, यदि किसी प्रकार की आर्थिक समानता के विशद आधार पर नहीं है तो वह

दिखावा मात्र रह जाता है। जिस समाज में सम्पत्ति की असमानता हो, वहाँ लोकतंत्र के राग का कोई अर्थ नहीं होता। नार्वे, स्वीडेन और डेनमार्क—जैसे युराप के छोटे देश, बड़े पूँजीवादी देशों की अपेक्षा, अधिक सच्चे लोकतंत्र हैं और इसका कारण सिर्फ़ यह है कि उनके लोकतंत्र आर्थिक समानता की अधिक मात्रा पर निर्भर हैं।

लेकिन यह आर्थिक समानता केन्द्रीभूत बड़े उद्योगों पर आश्रित साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) प्रणाली की हो सकती है या काफ़ी सीमा तक विकेन्द्रीकरण पर आश्रित लोकतंत्रात्मक ढंग की हो सकती है। मेरी धारणा है कि किसी समाज में ऐसी आर्थिक समानता का नतीजा, जिसकी आर्थिक व्यवस्था एक मात्र बड़े उद्योगों पर निर्भर करती हो, यह होता है कि थोड़े लोगों के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता एकत्र हो जाती है। इससे नौकरशाही और सत्ता के अधिनायकशाही प्रयोग का जन्म होता है। उस दशा में शासक न केवल जनता के राजनीतिक वरं आर्थिक जीवन का भी नियंत्रण करने लगते हैं। यदि राजनीतिक सत्ता में सत्ताधारी को चरित्रहीन—भ्रष्ट—करने की क्षमता है तो एक ही गुट के हाथों में राजनीतिक के साथ आर्थिक सत्ता भी आ जाने पर वह बुराई, स्वभावतः, दूनी हो जाती है। पूँजीवाद ने लोकतंत्रवाद की हत्या इसीलिए की पूँजीवादी वर्ग के हाथ में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक अधिकार चला गया। साम्यवाद आर्थिक शक्ति का सम्पूर्ण नियंत्रण राजनीतिक अधिनायक (डिक्टेटर) और नौकरशाह के हाथ में सौंप देता है और उसमें लोकतंत्रवाद के लिए उतना ही खतरा है जितना पूँजीवादी व्यवस्था में है।

उद्योगों का विकेन्द्रीकरण

इसलिए यदि लोकतंत्रवाद को जीवित रहना है तो उसे कोई ऐसा उपाय खोज निकालना होगा जिससे मनोनीत या निर्वाचित शासक या शासकों के हाथ में आर्थिक सत्ता को केन्द्रित होने से रोका जा सके। अगर व्यक्ति के लिए स्वतंत्र कार्य करने के क्षेत्र खुले न हों तो एक राजनीतिक लोकतंत्र भी 'डिक्टेटरशिप' या अधिनायकवाद हो सकता है।

आर्थिक क्षेत्र में कांग्रेस का ऐतिहासिक कार्य उसका उद्योगों के विकेन्द्रीकरण का ज़बर्दस्त समर्थन है। बंग-भंग आन्दोलन के समय से हमारे राजनीतिक विचारक ग्राम और गृह-उद्योगों को पुनर्जीवित करने पर ज़ोर देते आ रहे हैं। भारतीय राजनीति में गांधी जी के प्रवेश करने के बाद से इस बात पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के ठोस कार्यक्रम के रूप में बदलने लगा। इसलिए समय आ गया है कि हम अपने आर्थिक स्वराज्य की साफ़-साफ़ व्याख्या करें, जो अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण के रूप में होगा। हम यह भी भूलना न होगा कि विकेन्द्रीकरण ही हमारी कृषक जनता की बहुसंख्या की जीर्ण बेकारी की समस्या हल करने में प्रभावशाली ढंग पर सहायक हो सकता है।

………हमने सोचा था कि कपड़े का उद्योग विकेन्द्रीकरण के सबसे अधिक उपयुक्त है। लेकिन इस क्षेत्र में प्रान्तीय सरकारें नई मिलें खोलने में एक-दूसरे से होड़ कर रही हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि कपड़े के अभाव की वर्तमान अवस्था में अधिक उत्पादन के सभी साधनों का उपयोग किया जाय। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि इससे पूँजीवाद के नये स्वार्थों का अनिवार्य रूप से जन्म होता है। खादी कार्यकर्ता होने के नाते मेरा विश्वास है कि नयी मिल खोलने की अपेक्षा यदि चर्खे और कर्घे को सुव्यवस्थित ढंग पर प्रोत्साहित किया जाय तो कम पूँजी और थोड़ी मेहनत से थोड़े समय में उद्देश्य की अधिक पूर्ति हो सकती है।

………यह हमारा सौभाग्य है कि इस पीढ़ी के हम लोगों को एक अच्छे कार्य का साधन बनने का मौका मिला है। केवल यही नहीं कि हमें विदेशी जुए से अपने लोगों को मुक्त करने के लिए यत्न करने का मौका मिला। ऐसा अवसर तो इतिहास में अनेक लोगों को मिला है। हमें तो अनोखा अवसर मिला है। हमें अहिंसा और सत्य के ज़रिये अपनी आज़ादी पाने और इस उच्च ध्येय तक पहुँचने के लिए नैतिक साधनों का अवलम्ब लेने का मौका मिला है। हमें विभिन्न और परस्पर-विरुद्ध दीख पड़नेवाली संस्कृतियों का समन्वय करने का अवसर मिला है। हमें

विविधता में एकता का निर्माण करना है और अनेक रंगों का मोज़ैक बनाना है। हमें विभिन्न और कटु स्वरों तथा रागों को एक में मिलाकर ऐसा संगीत निकालना है जो किसी काल में न जल में न थल में सुना गया। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, जातीय तथा सांस्कृतिक संघर्षों का अन्त करने के लिए कोई शांतिमय तरीका मानवता को निकालना होगा, नहीं तो वह नष्ट हो जायगी। हिंसा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। वह रोग और रोगी दोनों को नष्ट करने की धमकी दे रही है। इसलिए कोई दूसरा तरीका निकालना ज़रूरी है। भारत ने वह तरीका खोज निकाला है और कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने उसका उपयोग एक ऐसे नेतृत्व में किया है जो शताब्दियों में कभी एक बार आता है। यह एक नया तरीका है। उसमें खामियाँ भी हैं। पर याद रखिए, भारतीय क्रान्ति के सिवा····इतिहास में ऐसी किसी दूसरी क्रान्ति का मिसाल नहीं है जिसमें जान-माल की हानि तथा सामान्य जीवन की अव्यवस्था इससे कम हुई हो और जिसने इससे कम घृणा और विरोध को जन्म दिया हो। हमारे प्रयत्नों में तत्काल सफलता मिले या न मिले, हमें यह न भूलना चाहिए कि हम एक अच्छे और महान् कार्य में लगे हुए हैं। ऐसे कार्य का अन्तिम परिणाम असफलता नहीं हो सकता। लेकिन यदि हमें अपने कार्य में सफल होना है तो कार्य करने वालों को अच्छा और महत् बनना पड़ेगा। गुलामी से न अच्छाई आती है, न महानता। पर प्रकाश होते ही, दीपक जलते ही शताब्दियों का अन्धकार एक क्षण में दूर हो जाता है। भारत में दीपक जल चुका है। आइए, हम इसे निरन्तर प्रकाशित रखें और उसके नेतृत्व का अनुसरण करें। बस, हमारा सब भला होगा। वंदे मातरम्।

—मेरठ, २३।११।'४६; कांग्रेस-अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण से]

गांधी-मार्ग

तृतीय खण्ड

समन्वय

: १४ :

आध्यात्मिकता और कांग्रेस

कठवैद या नीम हकीम जब किसी रोग का नामकरण कर देते हैं तब समझते हैं कि हमने उसका निदान कर लिया। इसी प्रकार नकली वैज्ञानिक भी जब किसी दृश्य या प्रमेय का नामकरण करते हैं तो मान लेते हैं कि उसकी व्याख्या कर दी। हमारे यहाँ भी कुछ राजनीतिक व्यक्ति और दल ऐसे हैं, जो राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों तथा कार्यक्रमों पर फैसला देते समय ऐसा ही अविवेकपूर्ण—असमीक्षात्मक—व्यवहार करते हैं। किसी नीति या कार्यक्रम-विशेष की बुद्धिमत्ता, उपयोगिता और व्यावहारिकता को सिद्ध या असिद्ध करने की जगह वे कतिपय विशेषणों का प्रयोग करते हैं और बस मान लेते हैं कि हमने उस सवाल का प्रभावशाली ढंग पर निबटारा कर दिया। किसी नीति को क्रान्तिकारी कह भर दो, बस आपने उसे वैज्ञानिक, अकाट्य तथ्यों पर आश्रित, ऐतिहासिक आवश्यकता से प्रेरित अतः निश्चितरूप से सफल होने वाली (अभी नहीं तो निकट भविष्य में) सिद्ध कर दिया। अपने विरोधियों की नीति को सुधारवादी, रोमांचक पुनरुद्धारवादी और प्रतिक्रियावादी कह दो, आगे किसी प्रमाण या विश्लेषण की जरूरत नहीं है। बस, इतने से ही आपने सिद्ध कर दिया कि वह नीति न तो तथ्यों पर आश्रित है, न वैज्ञानिक है, न ऐतिहासिक आवश्यकता से प्रेरित है; अतः उसका असफल होना अवश्यम्भावी है। अगर वह सफल होती दिखाई देती है तो दृष्टिभ्रम एवं धोखा मात्र है।

अक्सर कांग्रेस की नीतियों एवं कार्यक्रमों को, उनसे मतभेद रखनेवालों ने मध्यकालिक, पुनरावर्त्तनवादी और सुधारवादी कहा है।

इन आलोचकों ने अपनी नीतियों को, या किसी नीति के अभाव को भी, क्रांतिकारी कहा है। सीतापुर युवक सम्मेलन के अध्यक्षपद से दिये अपने भाषण में कामरेड राय ने भी हाल में कुछ ऐसी बात कही है। 'सुधारवादी' शब्द की ताज़गी और जादू अब तक नष्ट हो जाने से उन्होंने एक दूसरे शब्द 'आध्यात्मिक' का प्रयोग किया है। कांग्रेस की विचारधारा 'आध्यात्मिक' है। बस, आगे किसी विश्लेषण या प्रमाण की आवश्यकता नहीं। 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग करके वक्ता ने मान लिया कि उसने इसके अन्तर्गत वर्णित नीतियों और विचारधारा का पर्दा फाश कर दिया। समझ लिया गया कि यदि वे आध्यात्मिक हैं तो राजनीतिक दृष्टि से वे प्रतिक्रियावादी होंगी ही। 'आध्यात्मिक' शब्द का ठीक निर्देश समझना बहुत कठिन है। धर्मान्ध हिंदू या मुसलमान के लिए इस का अर्थ गो-पूजा, गो-वध और मस्जिद के सामने बाजा हो सकता है। अज्ञानों के लिए वह किसी भी धारणा का, चाहे वह कितनी ही रूक्ष, असंस्कृत और भौतिक हो, द्योतक हो सकता है। विवेकवान और रहस्यवादी उसका मतलब शरीरबाह्य एवं श्रेष्ठतर अनुभूतियों द्वारा ग्रहीत कतिपय दार्शनिक एवं अन्तःस्थ सत्यों की माला समझ सकता है।

इसलिए किसी आलोचक ने किसी उपपत्ति या कार्यक्रम को 'आध्यात्मिक' कह कर यदि यह मान लिया कि हमने उसे गिरा दिया तो उसकी समझ की तारीफ़ करना मुश्किल है। क्या 'आध्यात्मिक' से आलोचक का अभिप्राय अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक से है? लेकिन आध्यात्मिकता सदा अव्यावहारिक नहीं होती। कभी कभी तो वह भयानक रूप से व्यावहारिक होती है और रही है। फिर धर्म भी सदा अवैज्ञानिक नहीं रहा। कोई समय था कि पुजारी जग-स्थित सम्पूर्ण विज्ञान का कोश होता था। इसलिए कोटि-कोटि जनता की श्रद्धा जिस ज़िम्मेदार संस्था को प्राप्त है उसकी नीतियों और योजनाओं की आलोचना करते समय ठीक और निश्चित अर्थ व्यक्त करनेवाले शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। यदि 'आध्यात्मिक' शब्द अस्पष्ट न होता तो भी कहा जा सकता है कि कोई

नीति आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से बुरी या प्रतिक्रियावादी हुए बिना भी आध्यात्मिक हो सकती है। अतीत में आध्यात्मिक नीतियाँ सदा ही राजनीतिक दृष्टि से बुरी नहीं रही हैं। इसलिए एक क्षण के लिए भी यह न मानते हुए कि आध्यात्मिक नीतियाँ राजनीतिक दृष्टि से अवश्य ही बुरी होती हैं, हम कांग्रेस के ध्येय, साधन, कार्यक्रम और व्यक्तित्वों की परीक्षा करके यह देख सकते हैं कि उनमें शुद्ध आध्यात्मिकता का कितना अंश है।

कांग्रेस का लक्ष्य, यद्यपि समय के साथ-साथ विस्तृत होता गया है, पर वह सदा राजनीतिक और आर्थिक रहा है। आरंभ में कांग्रेस ने अपने क्षेत्र से धार्मिक और सामाजिक सुधार को खास तौर से अलग रखा। आज के 'पूर्ण स्वराज' लक्ष्य का भी किसी आध्यात्मिक वा व्यक्तिगत आत्म-नियंत्रण, आत्म-प्रभुत्व वा आत्म-ज्ञान से सम्बन्ध नहीं है। वह केवल पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्रीय घटक के रूप में भारत को देखना चाहती है। विधान में कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति है।

कांग्रेस के साधन भी सदैव बदलते और विस्तृत होते रहे हैं। उसने प्रार्थना, आवेदन-निवेदन, विरोध और वैध आन्दोलन के साथ प्रारंभ किया। आज उसने एक नया अस्त्र अपने अस्त्रागार में जोड़ लिया है—सत्याग्रह वा असहयोग का अस्त्र। फिर उसने जिस सत्याग्रह को स्वीकार किया है, वह न तो व्यक्तियों तक सीमित है, न आध्यात्मिक ही है। वह राजनीतिक, आर्थिक और सामूहिक है। स्वराज शब्द की भाँति सत्याग्रह शब्द की व्युत्पत्ति के साथ आध्यात्मिक निर्देश अवश्य हैं पर कांग्रेस ने भारत राष्ट्र के लिए उसे जिस रूप में स्वीकार किया है उस रूप में वह आध्यात्मिक मोक्ष या व्यक्ति के आत्म-साक्षात्कार का साधन नहीं है। वह राजनीति तथा आर्थिक त्रुटियाँ दूर करने के लिए अहिंसात्मक खुली लड़ाई है। वह व्यावहारिक और नैतिक कारणों से राजनीति से हिंसा का निराकरण करना चाहता है। व्यक्तिगत अहिंसा भौतिक वा बाह्य धारणा की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक अधिक होती है। सामूहिक अहिंसा व्यक्तिगत अहिंसा का

बहिष्कार नहीं करती। पर दोनों सदा एक साथ नहीं चलतीं। व्यक्तिगत आचार में मानवी कर्म का तत्त्व न केवल उसी भौतिक अभिव्यक्ति या निश्चित समय के अन्दर उसके परिणाम में निहित होता है बल्कि व्यक्ति के मानसिक उद्देश्य तथा कर्म के मूल बिन्दु में निहित होता है। सामूहिक कर्म में भी, यद्यपि उद्देश्य महत्वपूर्ण होता है, पर उसमें बाह्य कर्म, बाहरी परिणामों पर ज़्यादा ज़ोर रहता है। व्यक्तिगत अहिंसा हर व्यक्ति, धर्म और समाज की अलग-अलग और विविध रूपों में होगी। औसत मुसलमान और ईसाई मांसाहार को अहिंसा का विरोधी नहीं मानता। पर औसत हिन्दू वैसा नहीं समझता। एक जैन इससे भी आगे जाता है। अहिंसा के ये सब प्रकार और अभिव्यक्तियाँ कांग्रेस-द्वारा स्वीकृत सत्याग्रह में नहीं हैं। वह तो इतना ही चाहती है कि अपने राजनीतिक एवं आर्थिक लक्ष्य-साधन में उसके अनुयायी किसी बाह्य हिंसा का अवलम्ब नहीं लें। अगर कभी कभी मनोवैज्ञानिक पहलू पर भी ज़ोर दिया गया है तो वह व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही। भावना यह रही है कि जो लोग विचार और वाणी में भी अहिंसा का पालन करने के अभ्यासी होंगे वे खतरे के अवसर पर बाह्य एवं सामूहिक ज़िम्मेदारियों की पूर्ति के अधिक योग्य साबित होंगे। अहिंसा की ऐतिहासिक उत्पत्ति जिस प्रकार से भी हुई हो, कांग्रेस ने केवल उसके बाह्य, भौतिक और सामूहिक पहलू को ही स्वीकार किया है। दूसरे रूप में कांग्रेस-द्वारा उसे स्वीकार कराने के सभी प्रयत्न असफल होते रहे हैं। ग़लत या सही कांग्रेस ने 'शान्तिमय' की जगह 'अहिंसात्मक' और उचित की जगह 'सत्यमय' साधनों को स्वीकार करने से सदा इन्कार किया है क्योंकि उसने ठीक ही अनुभव किया है कि शान्तिमय और उचित की अपेक्षा अहिंसात्मक और सत्यमय शब्दों का अर्थ बहुत विस्तृत हो जाता है। फिर 'अहिंसात्मक' शब्द व्यक्तिगत और आध्यात्मिक निर्देशों से पूर्ण है।

गांधीजी ने जिस सत्याग्रह की कल्पना की है उसका दूसरा तत्त्व सत्य है पर कांग्रेस ने इस शब्द को स्वीकर करने या उसको प्रयोग करने से इन्कार

किया है। उसने उससे कहीं व्यापक और कम महत्वाकांक्षी शब्द 'उचित' के प्रयोग पर ही सन्तोष किया है। इस प्रकार पहले के वैध उपायों को लें या बाद के 'उचित और शांतिमय' उपायों को लें कांग्रेस ने सदैव राजनीतिक साधनों का अवलम्ब लिया है। इन साधनों का किसी आध्यात्मिक, धार्मिक वा व्यक्तिगत प्रयत्न वा विचार से बहुत ही कम सम्बन्ध रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि अस्त्र ऐसे हैं जो नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों-द्वारा प्रयुक्त हो सकते हैं। पर इससे उनकी कुशलता में कोई खामी नहीं आती, वृद्धि ही होती है। दुनिया ने हर ऐसी वस्तु का बहिष्कार नहीं किया है जिनमें किसी प्रकार की आध्यात्मिक भावनाओं की गन्ध आती हो। भारत में तो ऐसा और भी कम है। जहाँ-तहाँ कतिपय दलों के अपवाद के साथ सामान्य मानव-मन किसी राजनीतिक अस्त्र को केवल इसलिए त्याग देने को तैयार नहीं है कि व्यक्तिगत लक्ष्यों की सिद्धि में वह आध्यात्मिक अस्त्र का भी काम दे सकता है। कांग्रेस के 'शान्तिमय' साधन को भारतीय समाजवादियों ने भी स्वीकार किया है। यही इस बात का काफ़ी सबूत है कि कांग्रेस जिस अहिंसा को मानती है वह राजनीतिक है। इस 'उचित' साधनों में केवल संकुचित कूटनीति तथा अवसरवादिनी और धोखाधड़ी की नीति का त्याग है। और इनका त्याग किसी भी विवेकपूर्ण, दूरदर्शी और मौलिक राजनीतिमत्ता में किया जायगा। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी राष्ट्र की प्रमुख समस्याएँ बहुत दिनों तक गन्दी कूटनीति और अवसरवादिता से हल की गई हों। फिर किसी गुलाम जाति के लिए ऐसे साधनों के इस्तेमाल का परिणाम राष्ट्र की नैतिकता को उठाने की बजाय उसे नीचे ही गिराने वाला होगा। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि को छोड़ कर विशुद्ध राजनीतिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें तो कांग्रेस ने उनका त्याग करके सर्वथा उचित ही किया है। एक ऐसे देश में, जो शताब्दियों से गुलामी की पीड़ा भोगता रहा है, प्रत्येक राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम अनिवार्यतः राष्ट्र एवं व्यक्तियों की नैतिक शक्ति में वृद्धि करता है।

पर इससे वह कार्यक्रम आध्यात्मिक नहीं बन जाता। फिर कांग्रेस 'साध्य से साधन का औचित्य सिद्ध होता है' वाली उपपत्ति को नहीं मानती। पर इस विचार के कारण वह आध्यत्मिक नहीं बन जाती। बहुतेरे आध्यात्मिक सम्प्रदायों ने ऐसे सिद्धान्तों को माना है, और आज भी मानते हैं। पर कांग्रेस ने नैतिक, व्यावहारिक, उपयोगितावादी दृष्टिकोण से इस 'थियरी' या उपपत्ति का त्याग किया है। किसी आध्यात्मिक कारण से नहीं; उसने इसलिए इसका त्याग किया है कि इसकी बदौलत दुनिया में कटुता, क्रूरता, रक्तपात और विनाश का ताण्डव होता दिखाई पड़ता है। कांग्रेस की कार्य-प्रणाली अनैतिक नहीं है; वह सदाचरण पर आश्रित है। सदाचारशास्त्र का मुख्य कार्य पड़ोसियों के बीच न्यायपूर्ण, सही और भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित करना है। पड़ोसी में विरोधी और अपराधी भी शामिल हैं। सदाचारशास्त्र जब कानून का रूप धारण करता है तब भी इनको—विरोधी और अपराधी को—उपयुक्त स्थान देता है; तब भी वह देखता है कि इन्हें अनावश्यक कठिनाइयों तथा क्रूरता से बचाया जाय। किसी भी वैज्ञानिक विवाद में सदाचारशास्त्र और कानून को आध्यात्मिकता से मिला देना या उन्हें एक कहना ठीक नहीं।

कांग्रेस के स्थूल कार्यक्रम में इतनी बातें हैं:—गांवों का काम, ग्रामोद्योग, किसानों तथा मज़दूरों का संघटन, खादी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता-निवारण, और वैधानिक कार्य (कौंसिल आदि)। अस्पृश्यता-निवारण के अलावा इनमें से कोई भी काम अ-राजनीतिक या आध्यात्मिक नहीं समझा जा सकता। व्यक्तियों के लिए वे आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के साधन हो सकते हैं पर कांग्रेस ने उन्हें उनकी राजनीतिक, आर्थिक और व्यावहारिक उपयोगिता के कारण ही स्वीकार किया है। भारत में आज जिस रूप में अस्पृश्यता है उस रूप में वह विशुद्ध धार्मिक प्रश्न नहीं। वह राजनीतिक और आर्थिक है, और इन सबसे अधिक मानवीय है। बिना इसका निराकरण किये राष्ट्र अपने ही विरुद्ध विभक्त रहेगा और स्वतंत्रता की माँग निस्सार प्रतीत होगी।

कांग्रेस नेतृत्व ने न भूतकल में, न वर्तमान में कभी आध्यात्मिकता का दावा किया। फिर भी यदि किसी सामूहिक हित के कार्य के प्रति निष्ठा, उत्सर्ग और कष्ट-सहन में आध्यात्मिकता के किसी अंश का दावा किया जा सकता है तो हमारे नेताओं में ये गुण पर्याप्त मात्रा में रहे हैं और हैं। इतनी विशेषता के साथ, एक गांधी जी को छोड़, सब वास्तविकतावादी व्यावहारिक देशभक्त और राजनीतिज्ञ रहे हैं और हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गांधी जी में व्यावहारिक राजनीति के साथ अध्यात्मिकता का गुण भी पाया जाता है। पर कभी किसी ने सन्देह नहीं किया कि उनमें व्यावहारिक और राजनीतिक योग्यता का अभाव है। लायड जार्ज ने तो एक बार कहा था कि वह वर्तमान युग के सबसे चतुर राजनीतिज्ञ हैं। कभी-कभी उनके विरोधियों ने उनकी राजनीति को इतना गूढ़ और चंरतापूर्ण पाया है कि उन पर चाणक्य की चालें चलने का आरोप लगाया गया है। पर मित्रों एवं निष्पक्ष निरीक्षकों के लिए वह पारदर्शक ईमानदारी की मूर्ति हैं और जो कहते हैं वही मानते हैं और सदा अपने मन की बातें खोलकर लोगों के सामने रख देते हैं।

इस तरह प्रकट है कि कांग्रेस के लक्ष्य, साधन, कार्यक्रम और व्यक्तित्वों में आध्यात्मिकता के लिए कोई विशेष आग्रह नहीं है। तब क्या बात है कि सुशिक्षित और उत्तरदायी व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार का आरोप किया जाता है? इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो यह कि समाजवादियों के एक वर्ग—'स्कूल'—के लिए जो भी चीजें भौतिकवाद और समाजवाद से मेल नहीं खातीं, वे मध्यकालिक, इसलिए आध्यात्मिक हैं, क्योंकि यह मान लिया गया है कि मध्य युगों में प्रेरक शक्ति राजनैतिक नहीं, मुख्यतः आध्यात्मिक थी। यहाँ इस बात पर बहस करने की आवश्यकता नहीं कि मध्य युग के विषय में इस प्रकार के विचार कहाँ तक तथ्य पर आश्रित या सही हैं। इस भ्रम का दूसरा कारण ऐसे शब्दों एवं पदों का प्रयोग है जो पुराने हैं और जिनके साथ आध्यात्मिक विचारों की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

शब्दों का मिथ्यात्व भी तो कोई चीज़ है। भाषा के द्वारा जो भ्रम उत्पन्न होता है उसमें अक्सर चिन्तन और विश्लेषण की शक्ति पंगु हो जाती है। अत्यन्त सावधान और जागरूक रहने पर ही कोई इससे बच सकता है। पूर्ण स्वराज, सत्याग्रह, रामराज्य, हड़ताल, ग्रामोद्योग, खादी जैसे शब्द आधुनिक मस्तिष्क में ऐसे विचार पैदा करते हैं जिनकी छाया में ये चीज़ें मध्यकालिक और आध्यात्मिक प्रतीत होती हैं। यदि इनकी जगह पूर्ण स्वतन्त्रता ('कम्पलीट इंडिपेंडेंस') असहयोग, प्रजासत्तात्मक शासन, जेनरल स्ट्राइक, औद्योगिक विकेंद्रीकरण इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो वे ही विचार आधुनिक, अद्यतन और विशुद्ध राजनीतिक एवं आर्थिक हो जाते हैं। पर कांग्रेस के आलोचक इस पर बहुत कम ध्यान देते हैं कि ये नये शब्द, जिनका स्रोत विदेशी है, कहाँ तक जनसमूहों की समझ में आ सकते हैं। उनकी समझ से भारत को बस पश्चिम की भाषा और विचार-प्रणाली अपनानी चाहिए, नहीं तो हममें राजनीतिक पृथकता और अवरोध पैदा हो जायगा।

—जुलाई, १६३६]

: १५ :

आध्यात्मिकता और राजनीति

सार्वजनिक, या देश की, सेवा भारत में सामान्य—आम—नहीं, अपवाद है। लोग कुटुम्ब के लिए, जाति के लिए और सम्प्रदाय के लिए त्याग करने के अभ्यस्त हैं। पर जब त्याग प्रथागत हो जाता है तब त्याग या बलिदान के रूप में उसका महत्त्व नष्ट हो जाता है। तब

तो हर आदमी से उसकी आशा की जाती है। जो इन्कार करते हैं वे समाज के शत्रु तथा मानव-स्तर से हीन समझे जाते हैं। समाज में रहने के लिए मानव प्राणी बराबर अगणित व्यक्तिगत असुविधाएँ झेलते रहते हैं। पर इसे त्याग नहीं कहा जाता ; क्योंकि वह प्रथागत हो गया है। भारत में कुटुम्ब, जाति, धर्म की सेवाएँ प्रथागत हैं ; पर राष्ट्रसेवा के लिए यह बात नहीं कही जा सकती।

राष्ट्रीय सेवा में उससे अधिक असुविधाएँ नहीं हैं जितनी अन्य सेवाओं में हैं पर चूँकि आम तौर से भारत में वह नहीं की जाती इसलिए जो कोई राष्ट्रीय सेवा करते हैं वे श्रेष्ठ प्राणी, महात्मा समझे जाते हैं। उनको सामान्य नहीं विशेष असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। भारत केवल एक ही श्रेष्ठता मानता है। एक ऊँच, श्रेष्ठ, आदमी को आध्यात्मिक प्राणी होना ही चाहिए। प्राचीन, काल में आध्यात्मिकता का जो भी अर्थ समझा जाता रहा हो, आज के भारत में उससे कष्टपूर्ण तपस्वीपन और देह को कष्ट देने ही का अर्थ लिया जाता है। इसलिए हर राष्ट्रीय कार्यकर्ता को इस कसौटी का पालन करना ही चाहिए।

पश्चिम में एक राष्ट्रीय कार्य-कर्ता सामान्य जीवन बिताता है। वह बड़े-बड़े त्याग करता है और अवसर पड़ने पर अपने प्राण भी निछावर कर देता है पर इसके लिए कोई उसे आध्यात्मिक नहीं कहता। एक बैरागी की भाँति रहने की आशा उससे नहीं की जाती। भोजन, वस्त्र तथा अपनी शरीर-रक्षा की अन्य सुविधाओं के विषय में वह एक नागरिक का सामान्य जीवन बिताता है। भारत में राष्ट्रीय कार्य-कर्ता के लिए इतना ही बस नहीं है कि वह धन तथा वैभव के मामले में बड़ा त्याग करे; उसे भौतिक प्रवृत्ति की सभी सामान्य आवश्यकताओं—माँगों—का भी त्याग कर देना चाहिए। भारत, विशेषतः हिन्दुओं, में शरीर-सुख को किसी प्रकार सहन नहीं किया जाता। बेचारा राष्ट्रीय कार्य-कर्ता जनता की आलोचना का शिकार हुए बिना सिनेमा नहीं जा सकता; यदि वह भूखा है तो होटल

में प्रवेश नहीं कर सकता। वह सिगरेट-बीड़ी नहीं पी सकता; चाय और काफ़ी का आनन्द नहीं ले सकता। यदि वह मुसलमान है तो उसे दाढ़ी नहीं मुड़ानी चाहिए। बिना कुछ भावप्रवण लोगों की भावनाओं को चोट पहुँचाये हिन्दू राष्ट्रीय कार्य-कर्ता मांस-मछली और अंडे नहीं खा सकता। वह अपनी सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकता। यदि पहले के अपने परिश्रम से कमाई या बाप-दादों की छोड़ी हुई जायदाद उसके पास है तो लोग चाहते हैं कि वह उसका सर्वथा त्याग कर दे। राष्ट्र-सेवा में लगी स्त्रियों के लिए सब प्रकार के गहने वर्जित हैं; उनके बाल पुराने ढंग पर गुँथे या विभाजित होने चाहिएँ। संक्षेप में देशभक्त को संन्यासी या सर्वत्यागी होना चाहिए; वैसा ही आदमी राष्ट्रीय सेवा के राज्य में प्रवेश कर सकता है। कांग्रेस ने राष्ट्रीय नीति के रूप में जिन चीज़ों को वर्ज्य करार दे रखा है,—जैसे मद्य, विदेशी वस्त्र तथा सामान्यतः विदेशी वस्तुएँ—; लोक-निषेध उससे कहीं आगे जाता है।

जब खिलाफ़त आन्दोलन अपने पूरे ज़ोर पर था तब मुस्लिम देश-भक्त के लिए दाढ़ी बढ़ाना और पारम्परिक पवित्र समझे जाने वाले ढंग पर मूँछें रखना आवश्यक था। अगर बेचारे की ठुड्डी बिना दाढ़ी की हुई तो उसका व्याख्यान सुनने के लिए लोग तैयार न होते थे। यदि उसके ओठ साफ़-सुथरे (या मुँडे) हुए तो वह हर्गिज़ देश व खिलाफ़त का कुशल सेवक नहीं हो सकता था। उसे फोटो खिंचाने के लिए बैठने का अधिकार न था। महान् देशभक्त मोतीलाल जी के जीवन-काल में यह आलोचना प्रायः सुनने में आती थी कि उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति नहीं त्यागी है, और अब भी अपेक्षाकृत आराम, सुख और वैभव का जीवन बिताते हैं। आज उनका पुत्र (जवाहरलाल) भी इस प्रकार की आलोचना से सर्वथा वंचित नहीं है; यद्यपि उन्होंने जेल के सीखचों के अन्दर जीवन के न जाने कितने साल बिताये हैं। फिर मज़ा यह कि यह आलोचना केवल अज्ञान और अनुदार—कट्टर—लोग ही नहीं करते; शिक्षित जन भी इस प्रकार के अविचारपूर्ण भ्रम के शिकार होते हैं। फाउंटेनपेन या घड़ी

रखने, सेफ्टीरेजर इस्तेमाल करने तथा सम्पूर्ण ऐसी चीज़ों के लिए सार्वजनिक कार्यकर्ता की आलोचना की जाती है, जो किसी प्रकार की कट्टरता के लिए नवीन या अपवित्र हों या जो नये-पुराने कट्टर सम्प्रदायों में वर्ज्य मानी जाती हों।

अगर सार्वजनिक कार्य-कर्ता लोगों की स्वीकृत कसौटियों का पालन करे तो वह वस्त्र में अधनंगा, शरीर से अधभूखा और दुर्बल, बुद्धि में दुनिया या केवल भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं की ठीक से जानकारी से हीन, सौन्दर्य-चेतना और कला-प्रवृत्ति में शिथिल और भावनाओं में अतृप्त होगा। ऐसा आदमी आदर्श देशभक्त होगा। वह एक योग्य सेवक होगा जिसे पाकर देश हर्षित हो सकता है!

एक औसत भारतीय से छोटी से छोटी देश-सेवा करने को कहिए, वह तुरन्त उत्तर देगा कि मैंने संसार का त्याग नहीं किया है, मैं एक गृहस्थ हूँ, और अभी जीवन के आनन्द भोगना चाहता हूँ। सामान्य औसत जीवन बिताना राष्ट्र की सेवा के विपरीत समझा जाता है। एक जर्मन, जापानी और अंग्रेज अवसर उपस्थित होने पर, गोलाबारी का सामना कर सकता है; वह नृत्यशाला, जलपान गृह या बिलियर्डरूम से सीधे युद्ध की खाइयों को जा सकता है, जाता है पर भारतवासी चरित्र में इतना ढीला समझा जाता है कि यदि उसने गृहत्यागी की कसौटी का पालन न किया तो अपने देश को धोका दे देगा!

इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हममें से बहुत ही कम लोग, विशेषतः युवकों में से तो बहुत ही कम, राष्ट्र की सेवा के लिए तैयार होते हैं। जब समाज ऐसी अवास्तविक, झूठी और ऊँची कसौटियाँ रखता है तब उसे आश्चर्य न होना चाहिए यदि वह पाखंडियों एवं प्रतारकों की ज़ोरदार उपज से पुरस्कृत हो। ईमानदार आदमी, जो शिक्षण, स्वभाव और विश्वास से वैरागी या संन्यासी नहीं होते, राष्ट्रीय कार्य उठाते हैं तो अनुभव करते हैं कि हर कदम पर वे समझौता करने को मजबूर हैं; कभी-कभी उन्हें पाखण्ड या मिथ्याचार का आश्रय भी

होना पड़ता है। किसी सार्वजनिक सेवक के लिए दिखावा और पाखण्ड सदा खतरनाक होते हैं। वह जनता की आँखों के सामने रहता है। जल्द या देर से जो कुछ वह करता है, उसका पता चल ही जाता है। तब जनता और उस सेवक के मित्रों को अनावश्यक चोट पहुँचती है और उनका स्वप्न भंग हो जाता है। यदि बात इतने ही तक रहती तो यह एक सस्ती क़ीमत होती। पर इससे भी बुरा यह होता है कि शीघ्र ही जनता सभी के दोरंगे आचरण में शंका करने लगती और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति अपनी श्रद्धा और विश्वास खो देती है। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के खिलाफ़ शिकायत का बहुत सा अंश इसी तरह का है।

एक दूसरी बात और है। कांग्रेस के प्रत्येक सार्वजनिक कार्यकर्ता के बारे में कल्पना कर ली जाती है कि उसने अपने जीवन में गांधी जी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया है। गांधी जी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के न केवल राजनीतिक बल्कि आध्यात्मिक गुरु भी मान लिये गये हैं। लोगों से कहो कि मैंने केवल गांधी जी की राजनीति को स्वीकार किया है तो कोई तुम्हारी बात पर विश्वास न करेगा। तुमसे उनके सम्पूर्ण प्रयोगात्मक सदाचरणों का पालन करने की आशा की जाती है। गांधी जी स्वयं अपने विषय में अन्तिम सत्य पाने का दावा नहीं करते। पर जनता और उनके कुछ प्रशंसक उनके लिए यह दावा करते हैं। यदि तुमने राजनीति में अहिंसात्मक रहने का वचन दिया है तो तुमसे और आगे जाने तथा समग्र मानवजाति को प्यार करने की आशा की जाती है, चाहे तुम्हारी शक्ति, तैयारी और विकास उतनी ऊँचाई पर ठहरने के योग्य न हो। तुम्हें अपने जीवन, अपने अस्तित्व के कानून का अनुसरण नहीं, गांधी जी के जीवन का क़ानून या उसकी विकृति का अनुसरण करना पड़ेगा जिसे लोक-कल्पना ने बना लिया है।

आज के राष्ट्र योद्धाओं की एक श्रेणी या जाति बनाने की हिम्मत नहीं कर सकते—फिर चाहे वे तलवार वाले सैनिक हों या सत्याग्रह के। राष्ट्रीय कार्य ऊँच-नीच, धनी निर्धन सबके द्वारा होना चाहिए। इसलिए

उन सबको नागरिक कर्तव्यों की पूर्ति करनी चाहिए। अगर उनका करना वाञ्छनीय है तो उनके ऊपर आचरण के असामान्य नियम या मान नहीं लादने चाहिएं। सामान्य सज्जनोचित आचरण से आलोचकों को सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। राजनीतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन मानने का भ्रम नहीं होना चाहिए। तथ्य की बात तो यह है कि राजनीति को आध्यात्मिक बनाया ही नहीं जा सकता। राजनीति का सम्बन्ध मुख्यतः समूहगत चेष्टा और बाह्य कर्म से है। अन्तर्प्रेरणा और व्यक्तिगत शुद्ध निर्णय का मूल्य बहुत ज्यादा है पर उतना नहीं जितना आध्यात्मिक जीवन में होता है। आध्यात्मिक जीवन यदि वह केवल आकार और पूजा-विधि तक सीमित नहीं है यानी स्थूल नहीं है तो उसका सम्बन्ध मुख्यतः व्यक्तिगत और आन्तरिक जीवन से, अन्तःप्रेरणा के जीवन से है। उसमें अपनी मानस-चेतना में व्यक्ति सबसे महत्वपूर्ण होता है; समूह या दल का स्थान गौण होता है। उसमे बाह्याचरण की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणाओं का, हृदय-स्रोतों का महत्व अधिक है। बाह्याभिव्यक्ति न हो तब भी बुरी आँख उससे सार की चीज़ है। पर यदि राजनीति, कानून और सामाजिक आचरण भी अन्तर्प्रेरणाओं या अन्तःस्रोतों को प्रधान स्थान दे दें तो पवित्र और उन्नत होने की जगह सार्वजनिक जीवन अधिक भ्रमपूर्ण हो जायगा।

आध्यात्मिक जीवन का यदि कोई अर्थ है तो उसका अर्थ आध्यात्मिक साधना ही है। यह किसी समूह या राष्ट्र का लक्ष्य नहीं हो सकता। ऐसी साधना के लिए विविध तथा विभिन्न प्रकार के यम-नियम की आवश्यकता होती है। कभी-कभी वे इतने जटिल और परस्पर-विरोधी होते हैं कि यदि कोई समूह अपने संघ जीवन के लिए उनमें पड़े तो वह भ्रम में ही खो जायगा। उदाहरण के तौर पर यदि सारा राष्ट्र किसी मूर्ति के सामने दण्डवत् करे या समाधि लगाकर बैठ जाय या अपने सिर के बल खड़ा हो जाय तो कैसा विचित्र दृश्य दिखाई देगा। आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपने भावों एवं वासनाओं का नियंत्रण करने में व्यक्तियों-द्वारा ऐसी साधनाओं का सहारा लेने का ढंग सामान्य है। आध्यात्मिक जीवन

का केन्द्र अन्तःस्थजीवन में समाया हुआ व्यक्ति है। राजनीति का मुख्य सम्बन्ध दल या समूह,अतः बाह्य सामाजिक आचरण, से है। पर धर्म के क्षेत्र में भी सर्वस्यागी संन्यासी और सामान्य सांसारिक जीवन बिताने वाले गृहस्थ में अन्तर रखा जाता है। दोनों को समान व्रतों का पालन नहीं करना पड़ता, न उन्हें एक-सी कठोरता या तप से गुजरना पड़ता है। बुद्ध के शिष्यों के दो वर्ग थे; संघ-भिक्षु और गृहस्थ शिष्य। दोनों के लिए एक नियम नहीं थे। संसारी शिष्य सामान्य गृहस्थ जीवन बिताते थे, जब कि संघ के भिक्षुओं को ब्रह्मचारी रहना और देह-गत सम्पूर्ण सुखों का त्याग करना पड़ता था। सामान्य और असामान्य लोगों के आध्यात्मिक जीवन के बीच इस प्रकार का भेद सभी धर्मों में माना गया है। गृहस्थ, कतिपय नियमों और पाबन्दियों के साथ, सामान्य जीवन बिताता है। ये नियम और पाबन्दियाँ भी बहुत कठोर नहीं होतीं। गांधी जी भी इस अन्तर का पालन करते हैं। उन्होंने अपने सत्याग्रह-आश्रम के नियम कभी कांग्रेस या राजनीति में अपना अनुसरण करने वालों पर नहीं थोपे।

सच तो यह है कि जब गांधी जी राजनीति के अध्यात्मीकरण की बात करते हैं तो उनका अभिप्राय राजनीति को नैतिक—सदाचरणशील—बनाने मात्र का होता है। आमतौर से राजनीति के क्षेत्र में सामान्य नैतिक नियमों का पालन नहीं किया जाता। भारत की राजनीति में जिस चीज़ का प्रवेश करने का प्रयत्न किया गया है, वह यह है कि व्यक्तिगत जीवन में या राजनीतिक जीवन में सम्मानपूर्ण आचरण का एक ही मान होना चाहिए। यदि भाषा की दार्शनिक यथार्थता का पालन किया जाय तो कोई राजनीति के अध्यात्मीकरण की बात भी न करेगा; वह केवल मानवी कर्म के क्षेत्र में पुनः उन नैतिक नियमों को लागू करना चाहेगा जहाँ से वे धता कर दिये गये हैं। यह सत्य है कि नीति या सदाचरण आध्यात्मिकता का एक प्रधान अंश है पर वह उसका सर्वस्व नहीं है। यदि आध्यात्मिकता और नीतिशास्त्र के बीच के इस भेद पर दृष्टि रखी जाय तो सार्वजनिक कार्य में लगे हुए लोगों के आचार के विषय में जो बहुत सा

भ्रम आज दिखाई पड़ता है, दूर हो जाय। और राजनीतिक जीवन अनेक पाखंडों एवं प्रवंचनाओं से मुक्त हो जाय। इससे दूसरे देशों की भाँति हमारे राष्ट्र को भी सामान्य नागरिकों की सेवाएँ प्राप्त होंगी और उसका भला होगा। आज तो सामान्य नागरिक आसमानी ऊँचाइयों से भय खाकर भाग खड़े होते हैं—उन ऊँचाइयों से जिन तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं पर जिनके कारण प्रयत्न करने वाले आध्यात्मिक की अपेक्षा हास्यास्पद ही अधिक बन जाते हैं।

—मार्च, १९३७]

: १६ :

गांधी-मार्ग

मुझे 'गांधीवाद' पर लिखने को कहा गया था, पर मैंने 'सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं की ओर देखने की गांधी-प्रणाली' या संक्षेप में 'गांधी-मार्ग' शीर्षक ज्यादा पसन्द किया। क्योंकि मेरा विश्वास है, अभी तक 'गांधीवाद'-जैसी कोई चीज़ नहीं बन पाई है। सभी 'वादों' की सृष्टि उन लोगों के द्वारा नहीं हुआ करती जिन लोगों के नाम पर उनका उपदेश और प्रचार किया जाता है, बल्कि उनके अनुयायियों-द्वारा मूल धारणाओं को सीमित कर देने के फल-स्वरूप होती है। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में अनुयायी उन विचारों को शास्त्रीय रूप देते, व्यवस्थित और संघटित करते हैं। ऐसा करने में मूल-सिद्धान्त स्थिर, कठोर, एकांगी और कट्टर बन जाते हैं; उनमें उनकी मौलिक ताज़गी और लचीलापन नहीं रह जाते, जो यौवन के लक्षण हैं। फिर गांधी जी कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हैं। उन्होंने किसी दर्शन की रचना नहीं की है। प्रारंभ से वह एक व्यावहारिक सुधारक रहे

हैं। इसलिए ज्यों-ज्यों समस्याएँ सामने आती हैं वह उन पर विचार करते और लिखते हैं। प्रधानतः वह कर्मवीर हैं, और उन्हें ठीक ही 'कर्मयोगी' कहा गया है। अतः उनके भाषणों, लेखों और कार्यों में कोई तार्किक या दार्शनिक प्रणाली की खोज करना कठिन है। इस विषय में वह पुराने पैग़म्बरों और सुधारकों से मिलते-जुलते हैं। उन्हें भी व्यावहारिक दैनिक समस्याओं का सामना करना पड़ता था। किसी प्रणाली के कठोर चौखटे में न बँधकर वे उन्हें अपने निराले ढंग पर हल करते थे। मूल मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का निर्देश तो कदाचित् कर दिया जाता था पर तफ़सील की बातें प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेष परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार पूरी कर लेता था। दर्शन, प्रणाली और नियम-बन्धन की कठोरता उनसे छोटे लोगों का काम था, जिनका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा कल्पना-विस्तार संकीर्ण था।

गांधीवाद नहीं, गांधी दृष्टिकोण

गांधी अपने विचारों के अन्तिम होने का कभी दावा नहीं करते। वे अपने कार्यों को सत्य की शोध अथवा सत्य के प्रयोग मानते हैं। ये प्रयोग अभी किये जा रहे हैं। किसी के लिए इन प्रयोगों को ही सत्य मान लेना या उसका दावा करना ग़लत होगा। यह सच है कि उनके कुछ अनुयायी, जिनमें बुद्धि की अपेक्षा उत्साह अधिक है, उनके विचारों के अटल और अन्तिम होने का दावा करते हैं, परन्तु वह स्वयं इस प्रकार का कोई दावा नहीं करते। वह अपनी ग़लतियाँ कबूल करते और उन्हें सुधारने की चेष्टा करते हैं। वह केवल अपने दो मूलभूत सिद्धान्तों—सत्य और अहिंसा—को अचूक, अमोघ, मानते हैं। अन्य बातों के सम्बन्ध में, जो उन्हें अपनी दृष्टि से सत्य प्रतीत होती हैं, वे उपदेश देने के साथ ही सीखने को भी तैयार रहते हैं। इन दो मूलभूत सिद्धान्तों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी उनमें कोई कट्टरता नहीं है। वह मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि विभिन्न और विविध परिस्थितियों में उनका भिन्न-भिन्न रीतियों पर प्रयोग किया जा सकता है। उनका यह दृष्टिकोण ही उनके

अनुयायियों और दूसरों को अक्सर चक्कर में डाल देता है और किसी विशेष परिस्थिति में वह क्या करेंगे इसका निश्चित अनुमान लगाना कठिन कर देता है। उनका व्यक्तित्व सतत विकासमान है अतः उनके विचार और कार्य का कोई कट्टर वा निश्चित रूप नहीं है। जिन लोगों ने उन्हें निकट से देखा है उन्होंने इस बात की ओर लक्ष्य किया है। वस्तुओं और विचारों के प्रति उनके बदलते हुए दृष्टिकोण और व्यवहार से यह बात व्यक्त होती है। अन्तर्धारा और आत्मिक मार्गदर्शन वही रहता है पर अभिव्यक्ति बदल जाती है। यही चीज़ है जो उन्हें यौवन की ताज़गी देती और उन्हें समय से आगे रखती है। जब उनके बहुतेरे नौजवान अनुयायी कट्टर तथा जड़ बन जाते हैं तथा अपनी जीवन-शक्ति खो देते हैं, वह सदा स्फूर्तिमान, कर्मशील और उत्साहपूर्ण बने रहते हैं। जब दूसरे लोग युवक पीढ़ी की विपथगामिता से अधीर हो उठते हैं, वह धीरज और सहानुभूति के साथ नवीन प्रस्तावों पर निर्विकार और निष्पक्ष दृष्टि से विचार करते हैं। इसलिए अभीतक गांधीवाद-जैसी कोई चीज़ नहीं है, केवल एक गांधी-मार्ग और दृष्टिकोण है, जो न तो कट्टर है, न अटल वा अन्तिम है। विस्तार की बातों को अन्तिम रूप दिये, या आने वाले सब समय के लिए उनका निर्देश किये बिना वह केवल दिशा की ओर संकेत करता है।

परिस्थिति के प्रतिघात में

गांधी हमारे देश की विचित्र परिस्थिति के कारण सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में आये। अपने कुछ अच्छी स्थिति वाले देशवासियों की भाँति वह भी इँग्लैंड गये, बैरिस्टरी पास की और अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने तथा सुख से रहने के लिए अपने पेशे का काम करने लगे। उनका विवाह पहले ही हो चुका था। अपने पेशे के सिलसिले में वह दक्षिण अफ्रीका गये। परिस्थितियों ने वहाँ उन्हें अपने देशवासियों का साथ देने और उनकी लड़ाइयाँ लड़ने को बाध्य किया। अधिकांश गरीब और अशिक्षित थे। जो थोड़े से धनी थे, वे धन एकत्र

करने वहाँ गये थे। उनमें सार्वजनिक सेवा की भावना और राजनीतिक प्रेरणा नहीं थी। वर्ण-द्वेष और अर्थ-द्वेष की प्रबलता से पूर्ण उस विदेशी भूमि में सबको पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व की आवश्यकता थी। वे सब अनेक सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे और विविध अपमानजनक प्रतिबन्धों से उनका जीवन पूर्ण था। अपने देशवासियों-द्वारा अपनाये गये उस देश में उनके प्रतिदिन क्षीण होते जाने वाले अधिकारों को कायम रखने की लड़ाई में गांधी खिंच आये। एक बार लड़ाई में खिंच आने पर उन्होंने अपनी सारी ईमानदारी, योग्यता तथा कर्मठता से उसमें योग दिया। उन्होंने अपने को पूर्णतया उसमें डाल दिया और बड़ी से बड़ी क़ुरबानी की परवा नहीं की। शीघ्र ही वह दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के एक मात्र नेता और पथ-दर्शक बन गये।

सत्याग्रह का आविष्कार

इस लड़ाई में उन्होंने सामूहिक अन्यायों के निराकरण का एक नया मार्ग ढूँढ़ा और सत्याग्रह के मुख्य सिद्धान्तों को खोज निकाला। जैसा नियम है, सिद्धान्त पर अमल पहले किया गया; नामकरण तथा उत्पत्ति बाद में सामने आई। लड़ाई के दौरान में गांधी ने आविष्कार किया कि सत्य और अहिंसा वैयक्तिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों में ही उपादेय नहीं हैं वरं अन्तर्सामूहिक झगड़ों को निबटाने के लिए भी अच्छे अस्त्र हैं। ये सिद्धान्त कुछ मानव-जाति के इतिहास में नये नहीं थे। कितने ही पुराने पैग़म्बरों ने उनका अभ्यास और उपदेश किया था। पर राजनीतिक सम्बन्धों तथा झगड़ों पर उनका प्रयोग करने का कोई व्यापक प्रयत्न कभी नहीं किया गया था। गांधी को पहली बार बड़े पैमाने पर यह प्रदर्शित करने का श्रेय है कि सदाचरण और सज्जनतापूर्ण व्यवहार के मान न केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों में उपादेय हैं बल्कि दलगत या अन्तर्सामूहिक सम्बन्धों में भी अच्छे और प्रभावशाली हैं। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि सत्य और अहिंसा का बाह्य कार्यरूप में ऐसा संघटन किया जा सकता है कि उनका विरोध करना कठिन हो जाय। उन्होंने आविष्कार किया कि धर्मपक्ष का

योद्धा यदि चाहे तो हिंसा से विरत रहकर भी अपने ऊपर किये जाने वाले अन्यायों का प्रतिकार कर सकता है तथा अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने के लिए हिंसा के सामान्य पारस्परिक अस्त्र की अपेक्षा सत्य और अहिंसा अधिक प्रभावशाली अस्त्र हैं।

सम्पूर्ण कर्म के मूल में सत्य-अहिंसा की स्थिति है

सम्पूर्ण सफल कर्म के मूल में सत्य और अहिंसा की स्थिति होती है, इसे सिद्ध करने के लिए गांधी ने अन्य बातों के साथ एक सरल कसौटी का प्रयोग किया। यद्यपि सत्य को अपनी सफलता के लिए असत्य और हिंसा का सहयोग और सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती पर असत्य और हिंसा को सफल होने के लिए सदा सत्य और अहिंसा का सहारा लेना पड़ता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, अत्यन्त स्वार्थपूर्ण तथा समाज-हित-विरोधी कार्यों में भी, उनमें लगे आदमियों के बीच परस्पर विश्वास रखने तथा वचन निभाने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ व्यापार में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा स्वार्थ तथा लोभ अधिक खुल खेलते हैं। फिर भी व्यापार में कोई सौदा (यहाँ तक कि जालसाज़ी या धोकाधड़ी भी) ज़्यादा समय के लिए संभव नहीं है जब तक व्यापारी एक दूसरे में विश्वास न रखें या जब तक उनके वचन इकरारनामे की भाँति न समझे जायँ। चोरों तथा खूनियों तक को एक दूसरे के विश्वास का पालन करना पड़ता है। कभी-कभी इस विश्वास तथा वचन के पालन के लिए उन्हें अपने व्यक्तिगत लाभ को तिलांजलि भी देनी पड़ती है। चाहे कोई कार्य हो, सत्य के मूलभूत सिद्धान्त का किसी न किसी रूप में, भले वह कितने ही सीमित रूप में हो, सहारा लेना ही पड़ता है। यही बात अहिंसा के लिए भी कही जा सकती है। विस्तृत और संघटित हिंसा भी तब तक संभव नहीं हो सकती जब तक उस हिंसा-कार्य में रत लोग आपस में अहिंसा के नियमों का पालन न करें। इस मूलभूत सिद्धान्त का पालन किये बिना वे शत्रु से नहीं लड़ सकते। यदि किसी सेना का केवल हिंसा में विश्वास हो तो शत्रु से मोर्चा लेने के पहले ही वह आपस में कट मरेगी।

असहयोग-तत्त्व

सम्पूर्ण संघटित जीवन के आधारभूत सिद्धान्त रूप में इन दोनों को जान लेने के बाद गांधी इनका उपयोग राजनीति के क्षेत्र में करते हैं—उस क्षेत्र में जहाँ सनातन काल से प्रवंचना और हिंसा को अधिक कारगर माना जाता रहा है। गांधी केवल इन निराकार सिद्धान्तों की कुशलता पर ही निर्भर नहीं करते और उनके परिणाम की क्रिया को दैव भरोसे नहीं छोड़ देते। वह केवल विपक्षी के हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं करते, यद्यपि इसकी कामना अवश्य रखते हैं। वह सबसे पहले अन्याय एवं अत्याचार से पीड़ित लोगों को संघटित करने और सबल बनाने की कोशिश करते हैं। वे ठीक तौर से संघटित हो सकें इसके लिए उनसे सभी प्रकार का अनाचार, सम्पूर्ण भेदभाव, सम्पूर्ण भय तथा स्वार्थ त्याग देने के लिए कहते हैं। इस प्रकार लोगों के अपने को संघटित तथा सबल बना लेने के बाद वह कहते हैं कि अत्याचार और अन्याय में तुम जो सहयोग देते रहे हो उसे हटा लो। संक्षेप में वह उनसे बुराई की शक्तियों में असहयोग करने को कहते हैं।

अतीतकाल में चाहे जो अवस्था रही हो, परन्तु आज की दुनिया में अत्याचार-पीड़ित लोगों के इच्छित वा अनिच्छित, सज्ञान अथवा अज्ञान, स्वतंत्र वा बाध्य सहयोग से ही उन पर अत्याचार करना संभव हो सकता है। यदि पीड़ित लोग सब प्रकार के सहयोग से इन्कार कर दें और इस इन्कारी के परिणाम-स्वरूप जो भी कष्ट सामने आयें उन्हें भोगने के लिए तैयार हो जायँ तो अन्याय और अत्याचार अधिक दिन नहीं टिक सकते। औद्योगिक झगड़ों में भी यही देखा जाता है। जब कभी मजदूर प्रभाव-शाली रूप से अपना सहयोग हटा लेते हैं तभी पूँजीपति को झुक जाना पड़ता है। छिटफुट औद्योगिक झगड़ों के परिणाम देखकर, मजदूर आज अपनी शिकायतें दूर करने के लिए तथा राजनीतिक एवं क्रान्तिकारी उद्देश्यों से आम हड़ताल की चर्चा करते दिखाई देते हैं। हड़ताल भी असह-योग या सत्याग्रह ही तो है। यह ठीक है कि गांधी जी ने जिस सत्याग्रह

की कल्पना की है उसकी अन्तर्भावना और हड़ताल चलानेवाली भावना में अन्तर है (यद्यपि ऐसा होना नहीं चाहिए), पर दोनों में सहयोग हटा लेने का तरीका एक ही है। यदि सहयोग हटा लेने से औद्योगिक झगड़ों में निश्चित फल निकल सकते हैं तो सत्याग्रह के सम्बन्ध में सन्देह क्यों किया जाय ?

सत्याग्रह अज्ञेय नहीं है

सत्याग्रह हड़ताल के साथ कुछ और चीज़ भी है। वह कुछ और चीज़ ही लड़ाई चलाने वालों, इसके योद्धाओं को ज्यादा अच्छा उत्साह प्रदान करती है। इससे विरोधी में अधिकाधिक पस्तहिम्मती आती है। तटस्थ लोगों से भी अधिक सहानुभूति प्राप्त होती है। इसमें सहयोग हटा लेने के बाह्य अस्त्रों को अधिक मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म प्रभावों से सहायता और शक्ति प्राप्त होती है। एक सत्याग्रही कहीं अच्छा असहयोगी या हड़ताली होता है। उसकी विवेचन शक्ति पर आवेश, क्रोध अथवा घृणा का परदा नहीं रहता। वह अपने विरोधी को निरस्त्र कर देता है। वह अधिक सहानुभूति प्राप्त करता है। इस विश्वास से उसे बल मिलता है कि स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन से सदा व्यक्ति की उन्नति होती है। पर मान लीजिए सत्याग्रही के पक्ष में काम करने वाले नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों को अलग कर लिया जाय और सहयोग हटा लेने के बाह्य तथ्य तक अपने को सीमित रखें तो बताइए इस उपाय में, जिसका सहारा पिछले डेढ़ सौ वर्षों से लोग औद्योगिक झगड़ों में सफलतापूर्वक लेते रहे हैं और जिसके बिना आज आम हड़ताल, समाजवाद या साम्यवाद की बातें शायद इस सीमा तक न सुनाई पड़तीं, क्या रहस्यमयता है ? यदि सत्याग्रह से तात्पर्य किसी अज्ञात, अज्ञेय और अव्यावहारिक वस्तु से होता तभी उसे रहस्यपूर्ण और आध्यात्मिक कहा जा सकता था। आम हड़ताल एक व्यावहारिक, सुनिश्चित और ज्ञेय वस्तु है। तब सत्याग्रह समझ के बाहर की चीज़ क्यों हो ? मनुष्य कितनी जल्द पदों, शब्दों और नामों के जाल में फँस जाता है और जहाँ अन्तर नहीं है वहाँ भी अन्तर पैदा कर लेता

है ! गांधी के शब्दों में, सत्याग्रह की शब्दावली में बात कीजिए, बस एक व्यावहारिक, ठोस और सुनिश्चित लड़ाई रहस्यपूर्ण, आध्यात्मिक, आदर्शवादी और फलतः अवास्तविक बन जाती है। उसी को आम हड़ताल के नाम से पुकारिये, बस वह तुरन्त वैज्ञानिक बन जाती है, यहाँ तक कि ऐतिहासिक आवश्यकता का रूप धारण कर लेती है।

आधुनिक मस्तिष्क न केवल सत्याग्रह के इस मामले में उसका तत्त्व समझने में भूल करता है बल्कि राजनीति में सत्य के प्रयोग के गांधी जी के सिद्धान्त को समझने में भी भूल करता है। आज विश्व की जो स्थिति है उसको देखते हुए अन्तर्सामूहिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सत्य की तीव्र आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं। जिस प्रकार कूटनीति आज चल रही है यदि उसी प्रकार चलती रही तो सारी सभ्यता के विनाश का बहुत बड़ा खतरा है। पिछले महायुद्ध में डा० उडरो विल्सन तथा अन्य व्यावहारिक राजनीतिज्ञों ने इसे समझा था। राजनीति में सत्य के क्या अर्थ हैं ? वही जो खुली, निष्कपट, कूटनीति का है। जब डा० विल्सन ने संसार के राष्ट्रों के सामने यह सिद्धान्त रखा तथा इस सिद्धान्त पर राष्ट्रसंघ बनाने की सलाह दी तो किसी ने उन्हें रहस्यवादी, अध्यात्मवादी या अव्यावहारिक राजनीतिज्ञ नहीं कहा। जब रूस या समाजवाद और साम्यवाद खुली अर्थात् निष्कपट कूटनीति की चर्चा करते हैं तो आधुनिक मस्तिष्क का दावा करने वालों को बुरा नहीं लगता। क्या इसलिए कि वे जो कहते हैं उसके बारे में गम्भीर नहीं हैं ? पर जब गांधी राजनीतिक सम्बन्धों में सत्य की चर्चा करते हैं तो सभी विद्वान् और बुद्धिमान भय और आश्चर्य से मुँह ताकने लगते हैं और चिल्ला उठते हैं कि मानव स्वभाव जैसा है और राजनीति की सदा से जो दशा रही है उसे देखते हुए यह संभव नहीं है और जैसा होता रहा है, वही होगा। जैसा सनातन नियम है; कट्टरता शब्दों पर लड़ती है। धर्मक्षेत्र में हमें इसका उदाहरण मिलता है। अगर ईसाई कहता है कि दैवी आत्मा ('डिवाइन स्पिरिट') कपोत-रूप में नीचे उतरी तो वह बुद्धिगम्य माना जाता है।

पर यदि हिन्दू कहता है कि मानव के उच्चतर रूप में आईं तो यह सब प्राच्य मूढ़ विश्वास है। यदि हिन्दू किसी मूर्ति की पूजा करता है तो अंध-विश्वास है, किन्तु यदि कोई पुस्तक व धर्मग्रंथ सैकड़ों परतों में लपेटकर रख दिया जाता है और हर बार छूते या खोलते समय उसे चूमा जाता है तो वह बुद्धि के अनुकूल है। यदि कोई खुली कूटनीति, निष्कपट राजनीति की बातें करता है तो वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञ है पर यदि वह राजनीति में सत्य के प्रयोग की बात करता है तो तुरन्त रहस्यवादी, सन्त, अतः राजनीतिज्ञ के रूप में अव्यावहारिक बन जाता है। आम हड़ताल शब्द का इस्तेमाल करो तो तुम वैज्ञानिक हो, पर सत्याग्रह की बातें करो कि बस तुम तुरन्त अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी हो जाते हो।

सत्याग्रह—लड़ाई का एक सफल साधन

हाँ, सिलसिला आगे बढ़ावें तो कहना पड़ेगा कि गांधी ने अपनी लड़ाई के तरीके और युद्धनीति की शोध और विकास दक्षिण अफ्रीका में किया। उन्होंने यहाँ भी अनेक बार, चम्पारन में तथा असहयोग की तीन लड़ाइयों में सत्याग्रह के इस अस्त्र का उपयोग किया है। इन सभी लड़ाइयों में यदि उन्होंने अपना या राष्ट्र के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया तो भी यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। सशस्त्र विद्रोह भी एक ही हल्ले अथवा प्रयत्न में सफल नहीं हो जाता। किसी आदर्श की रक्षा की लम्बी लड़ाई में अनेक लड़ाइयाँ और मुठभेड़ें होती हैं, अनेक घेरे डालने पड़ते हैं; कभी पराजय मिलती है, कभी सफलता हाथ लगती है। यदि कोई सैनिक दल छोटे-मोटे संघर्षों में भी कामयाब होता है तो अपने को विजयी मानता है और बहुत से लोग यह उचित आशा करने लगते हैं कि कालान्तर में वह पूर्ण विजय प्राप्त करेगा और अपने लक्ष्य तक पहुँच जायगा। पर यदि छोटी-मोटी लड़ाइयों में असफलता भी मिले किन्तु सेना अबाध गति से आगे बढ़ती जाय, उसका साहस कम न पड़े, उसकी प्रतिरोध शक्ति बढ़ती जाय और वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक कुशलता से लड़ने में समर्थ होती जाय तो चाहे तत्काल लक्ष्य प्राप्त न हो किन्तु लड़ाई के तरीके

को सही मानना चाहिए। इस बात से बहुत कम लोग इन्कार कर सकेंगे कि गांधी के नेतृत्व में प्रत्येक लड़ाई में राष्ट्र आगे बढ़ा है तथा उसकी प्रतिरोध-शक्ति बढ़ती गई है। केवल विद्वेषी ही इस बात से इन्कार करेगा कि इन सत्याग्रह की लड़ाइयों के कारण शक्ति, त्याग, संघटन, निर्भयता और साहस के मामले में राष्ट्र आगे बढ़ा है। प्रत्येक लड़ाई में पहले से अधिक दमन होने के फल-स्वरूप अधिक कष्ट सहन करने पड़े हैं पर हर बार आह्वान का उत्तर ज्यादा स्फूर्तिप्रद और प्रतिरोध अधिक प्रबल रहा। १९३० में राष्ट्र १९२०-२१ की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह लड़ा। १९३२—३३ में उसने और भी अच्छी तरह अपने कर्त्तव्य का पालन किया। इस लड़ाई का नतीजा १९३० की लड़ाई की भाँति आकर्षक नहीं जँचा परन्तु राष्ट्र अधिक काल तक लड़ता रहा और उसने अधिक प्रतिरोध किया। बड़ा निर्दय और व्यापक दमन हुआ और यद्यपि राष्ट्र को शत्रु के व्यापक बोझ के आगे थक कर लड़ाई स्थगित कर देनी पड़ी, परन्तु उसकी आन्तरिक शक्ति १९३० की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई। यह कुछ ही समय बाद एसेम्बली के चुनावों में राष्ट्र की प्रबल विजय से प्रकट हो गया। राष्ट्र उस समय सत्याग्रह की लड़ाई चलाकर अधिक कष्ट सहन करने के लिए तैयार नहीं था परन्तु उसका दिल मजबूत और साहस अखण्डित था। इस प्रकार तीनों लड़ाइयों का तात्कालिक परिणाम चाहे पहले में हार, दूसरे में विराम-सन्धि, तीसरे में फिर हार रही हो, परन्तु राष्ट्र बराबर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ा है। आखिर अन्तिम लक्ष्य पर तो एक ही बार पहुँचा जायगा। शायद हर बार सफलता प्राप्त करते रहने पर भी हम लक्ष्य तक न पहुँच सकें। चाहे हमें प्रकटतः सफलता मिले या असफलता, जो मार्ग हमें अधिकाधिक शक्तिशाली बनाता है उसे ही तत्त्वतः सही और सफल समझना चाहिए, क्योंकि वह हमें अन्तिम लक्ष्य के अधिक निकट पहुँचता है।*

---

*१९४२ के 'भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' आन्दोलन में राष्ट्र

अब इस पर विचार कीजिए कि क्या राष्ट्र सत्याग्रह के पहले वाले तरीकों से इतनी प्रगति कर पाता ? जो लोग हर स्थिति में केवल वैध उपायों को ही उचित मानते हैं, उन्हें छोड़कर प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति स्वीकार करेगा कि गांधी के कांग्रेस में आने से पहले अर्जी देने, प्रार्थना करने तथा विरोध करने के जो वैध तरीके थे उनसे सत्याग्रह का तरीका निश्चय ही अच्छा है। आलोचक कह सकते हैं कि यह तरीका यद्यपि पुराने तरीके से अच्छा है और राष्ट्र इससे आगे बढ़ा है परन्तु इसका कार्य अब खत्म हो चुका, इसका उद्देश्य पूरा हो चुका। अब यह हमारे काम का नहीं है। यदि ऐसी बात है तो यह काम उस आलोचक का है कि वह और ज्यादा अच्छा और प्रभावशाली तरीका बताये। क्या अभी तक किसी आलोचक ने संघटित प्रतिरोध का कोई और नया तरीका हमारे सामने रखा है ? सभी विचारशील लोग, यहाँ तक कि तथाकथित प्रगतिशील दल भी यह मानते हैं कि आज संसार की, विशेषतः भारत की, जैसी परिस्थिति है उसमें अहिंसक तरीके पर ही लड़ाई चलानी होगी। आज युद्ध तथा विनाश के सभी अस्त्रों पर राज्य तथा सरकार का एकाधिपत्य होने के कारण बन्दूक और पिस्तौल भी लाठी अथवा पुराने जमाने के तीर-कमान से अधिक अच्छे न साबित होंगे। हवाई और रासायनिक युद्ध के इस जमाने में, जब कि लड़ाई के सब साधन सरकारों के हाथ में हैं, शस्त्रों से लैस लोग भी राज्य से हिंसात्मक युद्ध चलाकर सफल नहीं

ने पहले से भी अधिक प्रतिरोध शक्ति और साहस का परिचय दिया और दमन के अभूतपूर्व दावानल के बीच सिर ऊँचा किये खड़ा रहा। यहाँ तक कि शासन सत्ता पर प्रकट हो गया कि इस तरह ज्यादा दिन तक कब्ज़ा रखना संभव नहीं है। समय आया कि समझौता हुआ और आज हम अपने घर के स्वामी हैं। इस तरह १९२० में गांधी जी ने जिस युद्धनीति को अपनाया उसके द्वारा ही राष्ट्र को आज उसका राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त हो गया है।—संपादक

हो सकते। तब हिन्दुस्तान-जैसा निहत्था राष्ट्र क्यों कर सफलता प्राप्त कर सकता है? इसके अलावा फौजी ढंग पर खुले आम संघटन करना संभव भी नहीं है। हम केवल अहिंसक नीति से ही अपना संघटन कर सकते हैं। सशस्त्र युद्ध में संघटन, अनुशासन, एकता, वीरता तथा बलिदान आदि नैतिक गुणों का अत्यधिक महत्त्व होता है। सत्याग्रह इन गुणों का विशेष रूप से विकास करता है। अंतिम लक्ष्य चाहे अहिंसा से प्राप्त हो या हिंसा से हो परन्तु गांधी के नेतृत्व में राष्ट्र जिन गुणों को उत्तरोत्तर प्राप्त कर रहा है, वे प्राप्त करने योग्य हैं। वे शान्तिपूर्ण तरीकों से ही विकसित किये जा सकते हैं। इन सब गुणों से युक्त एक छोटा सा क्रान्तिकारी दल रचना संभव है। परन्तु समूचा राष्ट्र अथवा उसका एक बड़ा भाग गुप्त तरीकों से इन गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः अन्तिम हिंसात्मक संघर्ष के लिए भी सत्याग्रह ने भारतीयों में जिन गुणों का विकास किया है, वे उपयोगी होंगे क्योंकि वे हिंसात्मक और अहिंसात्मक सभी प्रकार की लड़ाइयों में आवश्यक हैं। अतः यदि सदा के लिए नहीं तो आनेवाले अनेक सालों के लिए ही हमारे पास एक मात्र सत्याग्रह का तरीका है। व्यावहारिक सुधारक के लिए सुदूर भविष्य की चिन्ता करना न संभव होता है, और न उसे ऐसा करना चाहिए। यदि वह केवल वर्तमान की चिन्ता करता है तो गलतियाँ करता है। यदि वह केवल सुदूर भविष्य की चिन्ता करता है तो भी गलतियाँ करता है। उसे एक मध्य मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिए। यह मध्य मार्ग स्वराज्य के लिए सत्याग्रह की अहिंसक लड़ाई में मिलता है। अभी तक किसी भी दल ने सत्ता प्राप्त करने के लिए गांधीजी के बताये सत्याग्रह के तरीके के स्थान पर कोई भी क्रांतिकारी कार्यक्रम नहीं सुझाया है।

रचनात्मक कार्यक्रम

किसी क्रांतिकारी लड़ाई में वास्तविक युद्ध का काल उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना वह काल जब लड़ाई सम्भव नहीं होती; जब राजनीतिक दमन अथवा थकावट के कारण राष्ट्र लड़ाई के खतरे और लड़ाई की

मुसीबतें सहने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसे काल में राष्ट्र के सामने कुछ रचनात्मक और उपयोगी कार्यक्रम होना चाहिए। यदि ऐसा कार्यक्रम न पेश किया जायगा तो सैनिक दल तितर-बितर हो जायगा। सत्याग्रह के सैनिकों को समय-समय पर अपने कैम्पों में विश्राम मिलना चाहिए। उन्हें ऐसा कार्य दिया जाना चाहिए जो उन्हें समर्थ और तैयार रखे। अपेक्षाकृत शान्ति के काल का उपयोग संघटन और शक्ति-सम्पादन में किया जाना चाहिए। यदि इन सब बातों की उपेक्षा की गई तो आगे जब लड़ाई का अवसर उपस्थित होगा तो राष्ट्र असंघटित और अप्रस्तुत पाया जायगा। राजनीतिक शिथिलता तथा शान्ति के ऐसे समय के लिए गांधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम बनाया है। खादी, ग्रामोद्योग, ग्राम-सेवा, राष्ट्रीय शिक्षा, हरिजनोद्धार, हिन्दुस्तानी प्रचार आदि कार्य हैं, जिन्हें गांधी जी ने संघटित किया है और उन्हें चलाने के लिए संस्थाएँ खड़ी कर दी हैं। ये कार्य स्वयमेव उपयोगी हैं और कार्यकर्ताओं की सेना को काम में लगाये रखते हैं। राष्ट्र भी इन कार्यों में हिस्सा लेकर और सहयोग देकर सार्वजनिक सेवा और ज़िम्मेदारी की शिक्षा प्राप्त करता है।

इन रचनात्मक कार्यों में वे लोग भी खिंच आते हैं जो खुली और सीधी राजनीतिक लड़ाई में विश्वास नहीं रखते अथवा राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा सामाजिक कार्यों में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। गांधी और उनके साथी कार्यकर्ता इन कार्यों को सामाजिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से देखते हैं। इन कार्यों में उलझे रहने पर भी वे यह नहीं भूलते कि मूलतः वे स्वतंत्रता की लड़ाई के सैनिक हैं। अतएव इन कार्यों को संकुचित समाज-सुधार-कार्य अथवा बुढ़िया का चर्खा अथवा प्रतिगामी कार्य कहना व्यर्थ उनकी निन्दा करना है। इससे सवाल के बारे में भ्रम फैलता है। फौजी ढंग की कार्रवाइयों के अलावा और सभी काम, ऊपरी तथा सहानुभूति-शून्य दृष्टि से देखने पर क्रान्तिकारी नहीं बल्कि सुधारवादी ही दिखेंगे। पर यदि लक्ष्य को न भुलाया जाय तो ये ही सुधारवादी और क्रान्तिकारी दोनों मालूम पड़ेंगे; सुधारवादी तात्कालिक परिणामों की दृष्टि

से तथा क्रान्तिकारी भावी लड़ाई पर पड़ने वाले अन्तिम परिणाम की दृष्टि से। सेना जब लड़ती नहीं होती और बैरकों में पड़ी रहती है तो बहुत से ऐसे काम करती है जो अनजान आदमियों को लड़ाई से असम्बन्धित मालूम पड़ेंगे। सैनिक खाइयाँ खोदते हैं जो पुनः भर दी जाती हैं। वे लम्बे-लम्बे कूच करते हैं जो किसी लक्ष्य तक नहीं पहुँचाते। वे चाँदमारी करते हैं, जिससे कोई नहीं मरता। वे नक़ली लड़ाइयाँ लड़ते हैं। ये सभी कार्य, जिनका लड़ाई से कोई सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता, यदि निषिद्ध ठहरा दिये जायँ तो सेना असंघटित हो जायगी और लड़ाई के समय बेकार साबित होगी। क्रान्तिकारी पार्टियाँ भी अपने दैनिक सुधार-कार्यक्रम रखती हैं। परन्तु केवल इन्हीं कार्यक्रमों से उनके बारे में राय नहीं बनाई जाती। यदि उन्हीं पर राय बनाई जाय तो वह ठीक नहीं होगी। नगर के मज़दूरों का संघटन करना है। कैसे किया जाय? यह केवल मजदूर संघों के द्वारा हो सकता है। परन्तु कोई भी मज़दूर संघ या ट्रेड यूनियन, फिर चाहे उसका उद्देश्य जितना क्रान्तिकारी हो, केवल क्रान्तिकारी आधार पर संघटित नहीं किया जा सकता। वे मज़दूरों की दैनिक आवश्यकताओं के आधार पर ही संघटित किये जा सकते हैं। इन आवश्यकताओं का क्रान्तिकारी उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। साधारण समय में मजदूर संघों की कार्रवाइयाँ यत्र-तत्र सुधार तक सीमित रहती हैं। वे तनखाह कुछ बढ़ाने, काम करने के घंटे कुछ कम कराने तथा सामाजिक सुविधाएँ कुछ अधिक दिलाने की कोशिश में रहते हैं। कोई भी मज़दूर संघ एक मात्र क्रान्तिकारी आधार पर संघटित नहीं हो सकता। किसान संघटन भी इसी तरह चल सकते हैं। रोजमर्रा के कामों में उन्हें सुधारक बनना होगा, किन्तु उनका हेतु क्रान्तिकारी होगा। इस प्रकार के सुधार-कार्य को क्रान्ति-विरोधी और प्रतिगामी कहना क्रान्तिकारी आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं की ओर से आँख मूँदना है क्योंकि क्रान्तिकारी आन्दोलन एक साथ सभी मोर्चों से चलाया जाता है।

मैंने अभी तक एक भी ऐसा दल नहीं देखा है जिसने गांधी-द्वारा

प्रस्तुत और कांग्रेस-द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के स्थान पर कोई दूसरा कार्य-क्रम रखा हो। मैंने कुछ उग्र और क्रान्तिकारी कार्यक्रमों की चर्चा बहुत सुनी है, परन्तु मैंने उन्हें व्यवहार में लाये जाते नहीं देखा है।

गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम से एक कार्य खादी के उत्पादन और विक्रय को लो। मैंने अभी तक नहीं सुना है कि गांधी-विरोधी क्रान्तिकारी खादी के साधारण ग्राहक को क्या सलाह देगा। वह खादी की सिफ़ारिश तो कर नहीं सकता क्योंकि वैसा करना तो प्रतिगामी होगा। तब क्या वह मिल के कपड़े की सिफ़ारिश करेगा? वह ऐसा भी नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करना तो सीधे उन लोगों की सहायता करना होगा जो प्रतिदिन और प्रतिक्षण मज़दूरों का शोषण करते रहते हैं और जब उनके लोभ का नियंत्रण करने की राजनीतिक शक्ति भी उसके हाथ में नहीं है। तब क्या वह विदेशी वस्त्र ख़रीदने की सिफारिश करेगा? दूसरी बातों को छोड़ दें तो भी ऐसी सिफारिश राजनीतिक लड़ाई के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से हानिकर सिद्ध होगी। मैंने कई बार सुना है कि सब होते हुए भी वह इस आशा से देशी मिलों के कपड़े की सिफारिश करेगा कि ज्यों-ज्यों औद्योगिक-जीवन में वृद्धि होगी धीरे-धीरे शहरी मज़दूरों की संख्या बढ़ती जायगी जो क्रान्ति के लिए अच्छे उपादान होते हैं। अगर वह इतनी ही बात सिद्ध कर ले तो भी उसके तर्क को सही माना जा सकता है। पर वह चाहे जो कहे और करे, वह भारतीय उद्योग का विस्तार नहीं कर सकता, न उसमें स्फूर्ति पैदा कर सकता है। एक विदेशी सरकार की नीति का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय उद्योग कुछ संकुचित सीमाओं से आगे नहीं बढ़ सकता। मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से प्रकट होता है कि वह भारत की बढ़ती हुई आबादी का साथ नहीं दे सका है और ज़मीन पर अधिका-धिक लोगों का बोझ बढ़ रहा है। और सम्पूर्ण जन-संख्या से औद्योगिक जन-संख्या का अनुपात गिरता ही जा रहा है।

इस सम्बन्ध में दूसरा तर्क यह पेश किया जाता है कि भारतीय (मिल) उद्योग की मदद करना एक ऐसी चीज़ की मदद करना है जिस पर भविष्य

में हम अपने औद्योगिक जीवन का निर्माण करेंगे। पर यह तर्क भी ठीक नहीं जँचता। रूस ने ही यह दिखा दिया है कि सत्ता प्राप्त करने के बाद एक पंचवर्षीय या दशवर्षीय योजना से सारे देश को पूर्णतः उद्योगमय कर दिया जा सकता है। जब हमारे हाथ सत्ता आयेगी तब यह जीर्ण और शिथिल उद्योग औद्योगिक पुनर्निर्माण की हमारी भावी योजनाओं में हमारे लिए बहुत कम सहायक होगा। इसलिए भविष्य के संदिग्ध लाभ के लिए आज गरीबों के निश्चित लाभ को भुला देना कोई बुद्धिमत्तापूर्ण नीति नहीं है। फिर हम पिछले अनुभवों से भी लाभ उठा सकते हैं। बंग-भंग काल का स्वदेशी आन्दोलन इसीलिए असफल रहा कि राष्ट्र ने मिल एजेंटों पर विश्वास कर लिया था। उन लोगों ने कपड़े की दर ऊँची कर दी और हर तरह राजनीतिज्ञों के उद्देश्य को असफल कर दिया। राजनीतिज्ञों ने उद्योगपतियों की शुभेच्छा और देशभक्ति पर पूर्णतः निर्भर किया। परिणाम भयावह हुआ। यदि हमें स्वदेशी से लाभ उठाना है और हमें अपने को एक देशद्रोही और अदूरदर्शी पूँजीवाद के हाथों में विवश नहीं छोड़ देना है तो हमारे पास खड़े होने के लिए और भी साधन होने चाहिएँ। अपने खादी और ग्रामोद्योग आन्दोलन द्वारा गांधी जी ने ऐसे ही साधन एकत्र कर दिये हैं। ये आन्दोलन कृषकों की बेकारी के महीनों में उन्हें काम भी देते हैं। तब किस तरह इन कार्यों को प्रतिगामी कहा जा सकता है? कुछ द्रुतगामी (रैडिकल) विचारक कहते हैं कि गरीबों की अवस्था सुधार कर ये कार्रवाइयाँ क्रान्तिकारी उत्साह को शिथिल कर देती हैं। यदि खादी के बारे में यह सत्य है तो यह ट्रेड यूनियन की प्रत्येक कार्रवाई के बारे में सत्य है। हड़ताल भी तो सामान्य क्रान्तिकारी लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं की जाती, बल्कि कुछ ठोस सुधारवादी लक्ष्य के लिए की जाती है। क्रान्ति के लिए जो कसरत इसके द्वारा हो जाती है वह तो एक गौण वस्तु है।

जहाँ तक खादी और ग्रामोद्योग का सवाल है गांधी अपनी जागरूकता के पर्याप्त प्रमाण दे सकते हैं। एक न्यूनतम जीवन-वेतन का निश्चय

करने से अधिक और कोई चीज़ अधिक क्रान्तिकारी नहीं हो सकती। और वह भी बिना किसी राजनीतिक सत्ता के। इतने पर भी गांधी ने अपनी सलाह और पथ-प्रदर्शन में चलने वाली सभी संस्थाओं और संघों में इस क्रान्तिकारी कार्यक्रम को लागू किया है। उन्होंने कार्यकर्ताओं और संघटन-कर्ताओं द्वारा एकत्र व्यापारी आँकड़ों पर आश्रित विरुद्ध सम्मति के बावजूद ऐसा किया है। उन्होंने तथ्यों की पर्वा न करके अपनी क्रान्तिकारिणी दृष्टि और स्फूर्ति का परिचय दिया है। उन्हें चेतावनी दी गई थी कि ऐसा करने से खादी का जो थोड़ा-बहुत काम बच गया है वह भी खत्म हो जायगा पर एक प्रत्यक्षतः न्यायपूर्ण और क्रान्तिकारी सिद्धान्त के पक्ष में उन्होंने अपनी प्यारी खादी-योजना के विनाश को भी तर्जीह दी। उनकी दृष्टि और निष्ठा ठीक साबित हुई और नये प्रयोगों से खादी की कुछ ज़्यादा क्षति नहीं हुई।

अब औद्योगिक मजूरों का प्रश्न लीजिए। उनकी धारणाओं से स्फूर्ति प्राप्त करने तथा उनके पथ-दर्शन में चलने वाला एक ही मजूर-संघ है: अहमदाबाद का मिल मजूर संघ। और भारत में उससे ज़्यादा संघटित और आर्थिक रूप से निश्चिन्त संघ दूसरा नहीं है। किसी की वास्तविक और चन्दा देने वाली सदस्य-संख्या उससे अधिक नहीं है। शिशुरक्षण गृहों, बच्चों तथा प्रौढ़ों के लिए स्कूलों, छात्रावासों, हरिजन संस्थाओं, सहकारी स्टोरों इत्यादि के रूप में किसी और के साथ इतनी संस्थाएँ सम्बद्ध नहीं हैं।

ठोस योजना

गांधी स्वराज्य के लिए व्याकुल हैं, पर उन्होंने अपनी योजना बड़े पैमाने पर तथा स्थायी आधार पर बनाई है। जब उन्होंने एक साल में स्वराज्य मिलने की बात कही थी तब भी उन्होंने दीर्घकालिक कार्य के लिए संस्थाओं का निर्माण और संगठन किया था। राष्ट्रीय शिक्षा, खादी, हिन्दुस्तानी प्रचार आदि कार्य एक साल में पूरे नहीं हो सकते थे। इसलिए जो योजनाएँ और संस्थाएँ बनाई गई थीं, वे कई वर्षों के लिए बनाई गई

थीं। तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध न होने पर भी ये संस्थाएँ संगठन कार्य करती रहीं और इस प्रकार उन्होंने क्रांति की आग प्रज्ज्वलित रखी, ये सब सर्वथा अग्रज संस्थाएं हैं। वे चाहे असफल हों, उन्हें चाहे मिटा देना पड़े और भविष्य में और अधिक अच्छी और बड़ी योजनाएँ बनानी पड़ें, परन्तु राष्ट्र को उनसे जो लाभ हुआ है तथा उनके जरिये राष्ट्र ने जो प्रगति की है उसकी अवहेलना राष्ट्रीय आन्दोलन के केवल छिछले विद्यार्थियों द्वारा ही सम्भव है।

निन्दा या आलोचना करना आसान है। किन्तु जब आलोचक स्वयं काम करने और संगठन करने में जुटेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि विश्व-व्यापक क्रांति के व्यापक आदर्श की दृष्टि से उनकी प्रवृत्तियाँ केवल सुधारकीय हैं, जिनका प्रकटतः मुख्य उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए काम करने वाले उस स्वयंसेवक के उदाहरण पर विचार करिये, जिसे दफ़्तर के लिफाफों पर टिकट चिपकाने का काम दिया गया है। वह किस प्रकार इस छोटे-मोटे उबा देने वाले काम का सम्बन्ध अपनी पार्टी द्वारा आयोजित भावी क्रांति से जोड़ेगा। उसे अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाना होगा तथा जीवित श्रद्धा का सहारा लेना पड़ेगा। इस रीति से वह सोच सकेगा कि उसका मामूली कार्य क्रांति के लिए आवश्यक है।

गांधी में सम्पूर्ण कार्यों के पीछे छिपे इस मूलभूत सिद्धांत को समझ लेने की दूरदर्शिता तथा श्रद्धा है। उस धार्मिक पुरुष की तरह जो प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के दर्शन करता है, गांधी जी जो भी सुधार कार्य स्वयं हाथ में लेते हैं अथवा दूसरों को करने की सलाह देते हैं, उसमें स्वराज्य-देवता के दर्शन करते हैं। वह चाहे ब्रिटिश सिंह की गर्दन पर सवार हो जाने की लड़ाई में लगे हों, चाहे छोटे से चर्खे को सुधार रहे हों अथवा छोटे से गांव की सकरी गलियाँ साफ कर रहे हों, वह सभी कार्य क्रांति के लिए, पूर्ण स्वराज्य का स्वप्न चरितार्थ करने के लिए करते हैं, जिससे गरीबों के दिन फिरें। इस श्रद्धा के साथ काम करते हुए वे अपने अनुयायियों और साथियों में भी वही श्रद्धा जाग्रत कर देते हैं।

इससे अच्छा कार्यक्रम दूसरा नहीं

इस प्रकार गांधी ने राष्ट्र के सामने अपना दुहरा कार्यक्रम रखा है, एक हलचलपूर्ण क्रांतिकारी समय के लिए, जब राजनैतिक जीवन उफान पर रहता है, दूसरा अपेक्षाकृत शांति काल के लिए जब राष्ट्रीय जीवन शिथिल तथा साधारण अवस्था में रहता है। किसी भी व्यक्ति या पार्टी ने इन दो कालों के लिए इससे अच्छा कार्यक्रम नहीं रखा है। अवश्य ही यह कार्यक्रम पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के लिए बनाया गया है, श्रमिकों की डिक्टेटरशाही अथवा किसान और मजदूरों का प्रजातंत्र स्थापित करने के लिए नहीं। परन्तु उनका कार्यक्रम और उनकी स्वराज्य की व्याख्या भी 'जनता जनार्दनाय' बनाई गई है। गोलमेज परिषद में भाषण करते हुए उन्होंने घोषणा की थी कि इंडियन नेशनल कांग्रेस का ध्येय 'विदेशी दासता से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना है और वह भी देश के करोड़ों मूक अधिवासियों के लिए। अतः हरेक स्वार्थ को, जो करोड़ों के स्वार्थ के विरुद्ध होंगे, अपना रवैया बदलना होगा और यदि वे अपना सुधार न कर सकेंगे तो उन्हें खत्म हो जाना पड़ेगा।'

संभव है कि जनता का हित श्रमिकों की डिक्टेटरशाही से हो। परन्तु गांधी का अभी तक यह ख्याल नहीं बन पाया है कि इससे भारतीय जनता का हित-साधन होगा। इस बीच जो लोग श्रमिकों की डिक्टेटरशाही स्थापित करना चाहते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे अपना दुहरा कार्यक्रम बनावें और राष्ट्र के सामने केवल सिद्धांत रूप में न रखें बल्कि अमल में लाकर दिखावें। जब तक हमारे सामने इस प्रकार का कार्यक्रम सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में नहीं आता, तब तक हमें अपने ही जगह पर रहने दिया जाय। गांधी ने केवल सत्य और अहिंसा का सिद्धांत और आदर्श जनता के सामने नहीं रखा, बल्कि उन्होंने अपना कार्यक्रम भी सामने रखा। उनका आदर्श चाहे संसार की विचारधारा से शताब्दियों आगे रहा हो, परन्तु उन्होंने उस समय की प्रतीक्षा नहीं की, जब भारतीय जनता

उनके आदर्श को हृदयंगम कर लेगी। उन्होंने राष्ट्र के आगे अपने आदर्श के अनुरूप कार्यक्रम रख कर अपने आदर्श की व्यावहारिकता सिद्ध की। उन्होंने ठीक ही सोचा कि आदर्श का प्रचार करने का सर्वोत्तम उपाय उस पर विनम्र रूप से अमल करना है। अन्य लोग यदि अपने विशेष आदर्शों के सच्चे पुजारी हैं तो उन्हें गांधीजी के चरण-चिह्नों पर चलना चाहिए। आखिर हम सब गांधी जी की विचारधारा और उनके अभ्यास के लिए नये थे। उनका साथ देने के लिए हमें अपने अतीत, अपनी आदतों, विचार और कार्य, अपने मूल्यों को गहरा झटका देने की ज़रूरत पड़ी। यदि किसी व्यक्ति या दल द्वारा ज़्यादा अच्छा और व्यवहार में आने योग्य कार्यक्रम हमारे सामने रखा जायगा तो पुनः इसी प्रकार का आचरण करने के लिए हम पर विश्वास किया जा सकता है। आख़िर गांधी ने अपने अनुयायियों के सामने गरीबी और कष्ट-सहन ही तो रखा है। यदि वे कम कष्ट सहकर और कम त्याग करके कुछ ठोस परिणाम प्राप्त कर सकें तो वे ऐसे मूर्ख नहीं कि वैसा अवसर हाथ से निकल जाने देंगे। इनमें से कइयों ने अपने रोज़गार और आमदनी को छोड़ रखा है और खादी या ग्रामोद्योग कार्यों में लगे हुए हैं। इससे गरीबों को शायद कुछ आने मिल जाते हैं और जब वास्तविक सत्याग्रह युद्ध बन्द हो तब कार्यकर्ताओं को काम भी मिल जाता है। यदि कोई उन्हें गरीबों के हाथ में एक रुपया या ज़्यादा रकम रख सकने का रास्ता दिखाता है और साथ ही विदेशी साम्राज्यवाद से लड़ने का विश्वसनीय उपाय भी बताता है तो वे ऐसे नहीं होंगे कि इस आकर्षक देन को ग्रहण करने से इन्कार कर दें। जब उन्होंने छोटी चीज़ों के लिए वह सब त्यागा जिसे लोग जीवन में महत्वपूर्ण समझते हैं तब यदि उनके सामने उच्चतर और ज़्यादा अच्छी चीज़ें पेश की जायँगी तो वे उनके लिए कुछ कम त्याग नहीं करेंगे। उन्होंने अपने को गांधी के नये साधनों का योग्य शिष्य प्रमाणित कर दिया है—ऐसे साधनों का जिनका इतिहास में कभी प्रयोग नहीं किया गया और जिसके लिए कोई पूर्व परम्परा नहीं थी। यदि ज़्यादा परिचित, सुपरीक्षित और सरल साधन

उनके सामने पेश किये गये तो निश्चय ही वे उनका स्वागत करेंगे। साफ बात यह है कि उन्हें मार्ग साफ-साफ नहीं दिखाई देता। ज्योंही उन्हें प्रकाश दिखाई देगा वे अपने उन विरोधी मित्रों का साथ देंगे जिनसे आज उनका मत-भेद है। तब तक उन्हें बिना व्याघात के अपने रास्ते चलने देना, अपनी योजनाएँ पूरी करने देना चाहिए। वे दूसरी विचारधारा वालों को अपनी योजनाएँ चलाने की स्वतंत्रता देने को तैयार हैं......।"

: १७ :

बेसिक शिक्षण और गांधी तत्वज्ञान

जब संस्थाएँ जटिल और अतिसभ्य हो जाती हैं, जब भ्रष्टता के बीज उनमें प्रविष्ट कर जाते हैं, संक्षेप में जब ह्रास आरंभ हो जाता है, तब होता यह है कि जिस प्रथम एवं प्रारंभिक प्रेरणा तथा कारण को लेकर उनका जन्म हुआ करता है उनका अन्त हो जाता है। ऐसे समय प्राथमिक महत्व की बातें पीछे पड़ जाती हैं और गौण विषयों में हमारा ध्यान खिंच जाता तथा हमारी दिलचस्पी केन्द्रित हो जाती है। केवल यही नहीं बल्कि समस्त संसार में हमारी शिक्षापद्धतियों को मूर्त्त और अमूर्त्त, दृश्य और अदृश्य पदार्थों से हानि पहुँची है। इसलिए हर कार्यक्षेत्र, प्रत्येक जीवन-क्षेत्र के सुधारक को पुनः प्रकृति की ओर लौटने के, वस्तुओं का मूल और प्राथमिक अर्थ ग्रहण करने के लिए आवाहन करना पड़ा है। उस मानवीय पोशाक का सरल उदाहरण लीजिए जिसका आज के तथा-कथित सभ्य समाज में, विशेषतः आज की नारियों में प्रचलन है। पोशाक का जन्म कैसे हुआ? ऋतु-परिवर्तन की कठिनाइयों से शरीर की रक्षा करने के लिए इसकी उत्पत्ति हुई। आज धनियों में यह शृंगार, आडम्बर,

और फैशन का तात्पर्य पूरा करती है। असली तात्पर्य (शरीर-रक्षा का) पीछे पड़ गया है; गौण हो गया है। भोजन के मामले में भी हम इसी प्रकार का परिवर्तन देखते हैं। मुझे निश्चय है कि यदि हमें भोजन-वस्त्र-विहीन कर दिया जाय तो ऋतुओं के आक्रमण से अपने शरीर की रक्षा के लिए हम अत्यन्त मोटे या भद्दे वस्त्रों के लिए लालायित होंगे; इसी प्रकार पेट की आग बुझाने के लिए सादे से सादे भोजन की कामना करेंगे। इसलिए भोजन-वस्त्र का सुधारक हमें पुनः प्रकृति की ओर लौटने, वस्तुओं के मूल और प्राथमिक अर्थ को ग्रहण करने के लिए आह्वान करेगा।

हिन्दू-दर्शन में कहा गया है कि जगत् रूप और नाम से बना है। पहले रूप, फिर नाम की उत्पत्ति का क्रम है। जब तक भौतिक पदार्थ तथा मानवीय कर्म सामने न हों तब तक उनको पहचानने के लिए नाम नहीं हो सकते। नाम और शब्द वस्तुओं के पहले नहीं आते; वे वस्तुओं का अनुसरण करते हैं। पर अपनी शिक्षण-प्रणाली में हमने इस प्राकृतिक क्रम को उलट दिया है तथा नाम एवं सामान्य पदों को पहले तथा पदार्थों को बाद में रखा है। हमें शब्दों, पदों और सामान्य विचारों द्वारा शिक्षण दिया जाता है। हमने बच्चों को वस्तुओं, ठोस प्रकृति तथा उसके उपक्रमों का केवल ऊपरी, दिखाऊ क्षणिक परिचय मात्र देने की छूट रखी है। हम उन्हें ऐसा नहीं बनाना चाहते कि वे प्रकृति का धैर्य के साथ निरीक्षण करें; हमको तो शब्दों के ज़रिये उन्हें सिखाने की जल्दी होती है और उस जल्दबाज़ी में हम भूल जाते हैं कि सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का आधार मूर्त वस्तुओं, उनके निरीक्षण और प्रयोग में है।

जब गांधी जी ने शिक्षा-सम्बन्धी अपने नये सुधार की घोषणा की तो जिन विद्वानों ने अपना ज्ञान पुराने, पारंपरिक ढंग पर, शब्दों और पदों के द्वारा प्राप्त किया था उन्होंने योजना पर बड़ा हो-हल्ला मचाया। वे बेचारे समझ ही नहीं पाते थे कि जो कुछ उन्होंने कठोर परिश्रम करके शब्दों-द्वारा प्राप्त किया है वह सब प्रकृति और दस्तकारी के ज़रिये कैसे सीखा जा सकता है ? गांधी जी को समझने में विद्वानों की इस असमर्थता के लिए मैं उनको

दोष नहीं दे सकता। उनका एक अनुभव, और यदि मुझे कहने की आज्ञा दी जाय तो, एक निराले व्यक्तित्व से पाला पड़ा। गांधी जी व्यावहारिक, अमली, कार्य के लिए इतनी त्वरा, जल्दी, में हैं कि वह एक पूर्ण व्यवस्थित सैद्धान्तिक अध्ययन और विश्लेषण द्वारा किसी समस्या पर विचार करना भूल जाते हैं और आज के शिक्षित जन इसी चीज़ को समझ पाते हैं। वह विद्वानों की प्रणाली पर नहीं चलते; राष्ट्र के सामने जो प्रस्ताव या योजना रखते हैं उसके पक्ष में व्यापक तर्क देते हुए कोई 'थीसिस' नहीं लिखते। अपनी गहरी और असाधारण कल्पना से वे अपनी योजनाओं को एक तस्वीर की भाँति देखते हैं। अत्यन्त संक्षिप्त भूमिकाओं के साथ वह अपने सुझावों की घोषणा करते हैं। हमें उनके विचार-क्रम के दर्शन का अवसर नहीं मिलता। इसलिए यदि विद्वज्जनों को गांधी जी के बारे में ग़लतफ़हमी होती है तो उन्हें अधिक दोष नहीं दिया जा सकता। वे उनकी प्रतिभा के विचित्र छल ('ट्रिक') के अचेतन शिकार हो जाते हैं।

यदि आधुनिक युरोप और अमेरिका के बौद्धिक वातावरण में पले हुए किसी सुधारक को किसी नवीन शिक्षण-पद्धति का प्रचार करना होता तो वह पहले प्राथमिक समाज में ज्ञान का कैसे आरंभ होता है, इसका निर्देश करते हुए शिक्षण का संक्षिप्त इतिहास देता। वह वैज्ञानिक, दार्शनिक राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान के सभी प्रकारों के विकास का वर्णन करता। तब वह दिखाता कि किस प्रकार एक सीमा तक विकास करने के बाद, ज्ञान जड़, निगमनात्मक और शिक्षाभिमानी हो जाता है, कैसे पुरोहितों के प्रभाव और दार्शनिक-द्वारा निर्मित रूपों के कारण वह शब्दों एवं पदों की भूलभुलैया में खो जाता है। इसके बाद वह बताता कि रूसो, पेस्टलोज़ी, हर्बर्ट, फ्रोबेल, जान डेवी तथा दूसरे सुधारकों ने शिक्षण-पद्धति में क्या-क्या सुधार किये या सुझाये; कैसे और किस सीमा तक उनके आन्दोलनों को सफलता मिली; किस सीमा तक वे अपने उद्देश्य में असफल हुए और क्यों? एक उत्पादक धन्धे को लेकर

शिक्षण देना क्यों संभव नहीं हुआ। और पूँजीवादी शासन के नियंत्रण में चलने वाले कारखानों के केन्द्रित तथा बहुत अधिक परिमाण में किये जाने वाले उत्पादन ने कैसे इस कार्य को असंभव बना दिया। इन बातों के अलावा रूस में होने वाले शिक्षण के राजनीति-प्रभावित यंत्रकौशली-करण का भी वह कुछ न कुछ उल्लेख करता। फिर वह अपने निबन्ध का अन्त इस निर्देश में करता कि भारतीय परिस्थिति नवीन प्रयोग के लिए कितनी अनुकूल है। वह दिखाता कि जिस सुधार की ताईद की जा रही है, इतिहास की प्रगति ने उसको किस प्रकार आवश्यक बना दिया है तथा किस प्रकार वह अनिवार्य एवं शिक्षण की स्वीकृत वैज्ञानिक प्रणालियों के अनुकूल है। किसी को यह बात भूलनी न चाहिए कि शिक्षित लोग अपनी उपपत्तियों—थियरियों—के प्रति कितने आसक्त होते हैं।

विद्वानों की दूसरी बाधा वे है कि वे उस रोग के रोगी हैं जिसे शब्दों का हेत्वाभास ('फैलेसी आव् वर्ड्स') कहा जाता है। उनके लिए कुछ शब्दों की एक निश्चित, अपरिवर्तनीय अर्थ-व्यंजना होती है। यदि एक विशेष शब्द प्रयुक्त होता है तो उसके आगे जाकर उसका हवाला ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक आदमी को पूँजीवादी या 'बूर्जो'—मध्यवर्गीय—कहा गया तो एक विद्वान समाजवादी, उस आदमी को हृदयहीन और निर्दय शोषणकर्ता कहने के पूर्व उसके बारे में और कोई जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करेगा। इसी प्रकार जो लोग पुरानी व्यवस्था के भक्त हैं वे यदि सुनते हैं कि अमुक आदमी साम्यवादी है तो तुरन्त मान लेते हैं कि बस वह खूनी क्रान्तिकारी है और सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करने के लिए मौके की ताक में है। जब हमारे आलोचकों ने सुना कि नई प्रणाली गांधी जी के दिमाग़ की कल्पना है और वर्धा से निकली है तो ऊपर बताये हुए शब्दों के हेत्वाभास एवं अत्याचार ने उनके दिमाग़ पर असर डाला। भला उस (वर्धा) क्षेत्र से कोई भली बात कैसे पैदा हो सकती है। फिर गांधी जी

में शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की क्या योग्यता है? वह देशी या विदेशी किसी यूनिवर्सिटी में नहीं रहे। वह शिक्षा के बारे में क्या जानते हैं? ये सब बातें बिल्कुल सही, पूर्ण, मालूम पड़ीं इसलिए योजना पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने और वह क्या चाहती है इसे समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। यदि गांधी जी के व्यक्तित्व और शिक्षण-क्षेत्र में उनकी योग्यता पर ध्यान केन्द्रित करने की जगह योजना को समझने की चेष्टा की जाती तो नवीन विचार का ज़्यादा सही नक़शा हमारे सामने होता और यदि उसकी टीका या आलोचना होती तो वह भी ज़्यादा जानकारी से भरी, अतः रचनात्मक और फलदायक, होती।

यदि विद्वज्जन पहले से ही फैसला कर लेने की जगह योजना का अध्ययन करते तो उन्हें वह प्राकृतिक, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक जान पड़ती। सम्पूर्ण ज्ञान का जन्म निरीक्षण और प्रयोग से ही होता है; वह मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर, व्यावहारिक से सैद्धान्तिक दिशा में, चलता है। पहले हम निरीक्षण और प्रयोग करते हैं, बाद में व्याप्ति न्याय (परीक्षण-प्रसूत अनुमान) से सामान्य नियम का जन्म होता है। व्याप्ति न्याय के पूर्ण होने के बाद हम फिर निगमन या परामर्शानुमान की ओर बढ़ते हैं और उसकी जाँच भी वास्तविक अनुभव-द्वारा होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान व्यावहारिक कर्म से उत्पन्न होता है जिसे मानवीय अनुभव की कसौटी पर सही उतरना चाहिए।

जब गांधी जी अपनी नवीन योजना के बारे में सोच रहे थे तो वह इसी वैज्ञानिक क्रम की बात सोच रहे थे। इसके अलावा वह बाल-मनोविज्ञान के पहलू से भी सोच रहे थे। वास्तविक और मूर्त्त से अमूर्त्त ज्ञान की ओर बढ़ना बच्चे के लिए प्राकृतिक और सरल होता है। चूँकि उसमें विचार की ओर नहीं कर्म की ओर प्रवृत्ति होती है इसलिए वस्तुओं का इस्तेमाल करते हुए ज्ञान प्राप्त करने में उसे सरलता होती है। वर्तमान शिक्षण-प्रणाली बाल-मनोविज्ञान के प्रतिकूल है। मुँह से उगलने के लिए कान से ज्ञान ठूँसा जाता है। लड़कपन में मुझे बहुत सी चीज़ों के नाम

रटाये जाते थे जिन्हें मैं बिल्कुल न समझता था, और बहुत वर्षों बाद जब उन चीज़ों के सम्पर्क में आने का मौका मिला तब कहीं उन्हें समझ सका। अगर शुरू से ही मुझे वस्तुओं का परिचय कराया गया होता, और उससे ज़्यादा उन चीज़ों का इस्तेमाल करना और बनाना मुझे सिखाया गया होता तो मैं कहीं अधिक शीघ्रता से और ज़्यादा अच्छी तरह सीख सकता।

इतनी बात तो साधन—ढंग—के विषय में हुई। यदि साधन या ढंग प्राकृतिक और वैज्ञानिक है तो वह किसी भी शिक्षण-प्रणाली के अनुकूल सिद्ध हो सकता है, फिर चाहे उस शिक्षण-प्रणाली का जो भी उद्देश्य हो। राज्य या शिक्षक की दृष्टि में शिक्षा का और जो भी सामान्य उद्देश्य रहा हो, युरोप और अमेरिका के आधुनिक शिक्षण के इतिहास में श्रम या दस्तकारी की पद्धति का समर्थन किया गया है। व्यक्तिवादी और पूँजीवाद समाज के लिए उसे उतना ही आवश्यक क़रार दिया गया है जितना समाजवादी या साम्यवादी समाज के लिए। यहाँ तक कि धार्मिक संस्थाओं ने भी इसे बढ़ावा दिया है। एक दृष्टि से शिक्षण के किसी सामान्य लक्ष्य से साधन—उपाय, ढंग—का महत्व अलग ही है। पर हमें भूलना न चाहिए कि गांधी जी ने इस साधन या उपाय की योजना व्यक्ति और समाज के लिए अपने जीवन-दर्शन के शेष अंगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से की है। इसलिए यहाँ, संक्षेप में ही सही, जिस जीवन-दर्शन का गांधी जी प्रचार करते हैं उसकी चर्चा कर लेना अप्रासंगिक न होगा। बल्कि ऐसा करना आवश्यक है क्योंकि यदि दूषित और अवैज्ञानिक प्रणाली या उपाय के कारण हमारे शिक्षण को बहुत हानि पहुँची है तो दूषित और अयोग्य आदर्शों के कारण उसको और भी ज़्यादा नुकसान पहुँचा है।

जब मैं कहता हूँ कि श्वेतांगी (अंग्रेज) सरकार के लिए क्लर्क और सस्ते, खास रंग में रँगे शासन-यंत्र के सहायक पैदा करने के लिए वर्तमान शिक्षण-प्रणाली का निर्माण किया गया तो मैं उसके लक्ष्य का उपहास नहीं करता। अगर उसका कोई इससे महत्तर लक्ष्य था तो, मेकाले के शब्दों

में, वह विचार और संस्कृति में एँग्लो-सैक्सन लोगों (अँग्रेजों) की एक ऐसी जाति का निर्माण करना था जो 'केवल चर्म तथा नाड़ियों में बहने वाले रक्त के रंग' में भारतीय हो। कतिपय कल्पनीय परिस्थितियों में यह भी एक योग्य लक्ष्य हो सकता है बशर्ते उसकी सिद्धि संभव हो। अपने देश में एँग्लो-सैक्सन के अन्दर अनेक वाञ्छनीय गुण होते हैं और अगर भारतीयों को रंगीन एँग्लो-सैक्सन लोगों के रूप में बदला जा सकता तो भी इस प्रयत्न का कुछ अर्थ होता। पर जैसा कि एक शताब्दी के एँग्लो-सैक्सन (अँग्रेजी) शिक्षण ने प्रदर्शित कर दिया है, इस उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है। शिक्षित भारतीय, केवल कुछ ही दिशाओं में एँग्लो-सैक्सन (अँग्रेज) बन सका है; और वे दिशाएँ भी कुछ विशेष वाञ्छनीय नहीं हैं। उसने अपने पूर्वजों के कुछ बहुत उत्तम गुणों का त्याग कर दिया है और उनकी जगह अपने मालिकों की कतिपय संदेहास्पद विशेषताओं को अपना लिया है। आदरणीय अपवाद हो सकते हैं पर उनकी संख्या बहुत कम है। जो हो, यह बात कल्पना के भी बाहर है कि भारत का विस्तृत जन-समूह इस भद्दे और असंस्कृत अर्थ में भी अंग्रेजियत को ग्रहण कर सकता है। इसका एक ही परिणाम हुआ है कि शिक्षित भारतीय, अपने देशवासियों के महत् समाज से कट कर बिल्कुल अलग पड़ गया है और एक विदेशी माध्यम के ज़रिये बड़े परिश्रम से उसने जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त किया है वह उसी तक रह जाता है और छन कर उसके देशवासियों तक नहीं पहुँच पाता। उसके और उनके बीच एक अनुल्लंघनीय खाईं पड़ गई है। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन का आरंभ न हुआ होता तो यह खाईं बराबर बढ़ती गई होती; राष्ट्रीय आन्दोलन ने वर्गों और जन-समूहों को एक मंच पर लाकर और एक सामान्य कार्यक्रम देकर इस खाईं को बढ़ने से रोका। इसलिए यदि शिक्षण-प्रणाली में परिवर्तन करना वाञ्छनीय है तो उसे योग्य और उच्च आदर्शों से मंडित करना और भी आवश्यक है।

गांधी जी-जैसे सुधारक का तत्त्वज्ञान समझने के लिए आवश्यक है

कि हम उसे उसकी ऐतिहासिक पार्श्वभूमि पर रखकर देखें। तभी कोई उन परिवर्तनों का ठीक मूल्य आँक सकता है जिन्हें वह वस्तुओं की वर्तमान व्यवस्था पर लागू करना चाहते हैं।

इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक मनुष्य को नैतिक और आध्यात्मिक मानव के रूप में परिवर्तित कर देना और उसे एक नैतिक अथवा आध्यात्मिक समाज का सदस्य बना देना है। नैतिक व्यक्ति क्या है? विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न परिभाषाएँ की जा सकती हैं। पर यदि मैं कहूँ कि नैतिक या आध्यात्मिक मनुष्य मुक्त मनुष्य है तो शायद ही कोई मेरी बात से इन्कार करे। वह मुक्त इस अर्थ में नहीं है कि वह कोई या हर एक बात जो उसे अच्छी लगती है, कर सकता है। वैसी मुक्ति, वैसी स्वतंत्रता तो पाशविक स्वतंत्रता है। उत्तरदायित्व से रहित मानव-स्वातंत्र्य की कल्पना नहीं की जा सकती। नैतिक मनुष्य में मुक्त इच्छा के साथ नियंत्रण, संयम, भी होता है; उसमें स्वतंत्रता के साथ ज़िम्मेदारी भी लगी रहती है। इस मंज़िल तक पहुँचने के लिए उसे एक उचित नैतिक समाज का सदस्य होना चाहिए। इस अखंड परिणाम की पूर्ति के लिए इतिहास की प्रगति बराबर प्रयत्नशील रही है।

मानवता ने लड़ाई-झगड़े और हिंसा के साथ अपनी यात्रा आरंभ की; इनके साथ स्वाभाविक चंचलता भी लगी हुई थी। जीवन संकटापन्न और अनिश्चित था। किसी तरह मानवता इस गड़बड़ स्थिति से बाहर निकली; उसने कुटुम्बों, वंशों और फ़िरकों तथा बाद में जातियों, वर्गों, देशों और राष्ट्रों के रूप में अपने को संघटित किया। किसी न किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था, जिसमें किसी न किसी प्रकार की क्रमबद्धता तथा न्यायपरता थी, आरम्भ हुई। युद्ध और हिंसा को उनके स्थान से किंचित् पीछे हटाया गया। फिर भी ये प्रारंभिक समाज युद्ध और हिंसा से ही पैदा हुए थे। शक्तिमान व्यक्ति और दल अपने-द्वारा वशीकृत और पराजित लोगों पर अपनी इच्छा और अपना नियम लादते थे। इसलिए प्रत्येक सामाजिक समूह मालिक और गुलाम, शासक और शासित, राजा और

प्रजा, कुलीन और हीन, सरदार और शर्तबन्द सेवक इन दो पक्षों में विभाजित था। आन्तरिक रूप से विभाजित होते हुए एक समूह की बाह्यतः अन्य सब समूहों से लड़ाई चलती रहती थी। किन्तु एकत्व और समता की धारणा का उपहास करने वाली यह अनुचित और हिंसक व्यवस्था भी पिछली स्थिति का विकसित रूप थी। वह कुछ न कुछ प्रगति का द्योतक थी। क्योंकि केवल बल ही ठीक है (जिसकी लाठी उसकी भैंस), इस नियम में अंशतः सुधार हुआ। ऐसे समाजों में राजा को देवी समझा जाता था और इसका कुछ औचित्य भी था, क्योंकि उन्होंने मानवता के एक भाग में कुछ न कुछ व्यवस्था और न्याय की स्थापना की थी। यह एक नैतिक लाभ था। क्योंकि हमें यह याद रखना चाहिए कि किसी न किसी प्रकार के सभ्य जीवन को संभव बनाने वाली कोई भी व्यवस्था, अव्यवस्था से, गड़बड़ी से तो अच्छी ही है। यहाँ हमारा मतलब उस अव्यवस्था और गड़बड़ी से नहीं है जो क्षणकालिक होती है और ज्यादा अच्छी और महत्तर व्यवस्था की आवश्यक कीमत के रूप में सामने आती है।

पर जिन लोगों में नैतिक और आध्यात्मिक भावना उच्च स्तर पर थी उनके भ्रातृत्व, समानता और न्याय की प्रेरणाओं को इस प्रकार का समाज सन्तुष्ट न कर सका। उनको अपने हृदय में कल्याण, न्याय और श्रेय से पूर्ण महत्तर व्यवस्था के आवाहन की अनुभूति हुई। सम्पूर्ण मानव-जीवन से एकत्व की अनुभूति की उनकी अभिलाषा कैसे पूर्ण हो? ऐसा समाज, जो मालिक और गुलाम-जैसे दो वर्गों में विभाजित हो, उनकी इस आन्तरिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता था। इसलिए जब उनमें प्रेरणा प्रबल हुई उन्होंने जीवन से संन्यास लिया और उन्मत्त भीड़ से दूर एकान्त की शरण लेकर अपने आदर्शों की साधना की चेष्टा की। अन्ततःस्थ होकर उन्होंने संसार तथा उसके सम्पूर्ण सम्बन्धों का त्याग कर दिया। बुद्ध ने इसी प्रकार संसार का त्याग किया। ईसी प्रकार पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में निराश होकर, ईसा को घोषणा करनी

पड़ी कि उसका राज्य इस दुनिया का नहीं, दूसरी दुनिया का है। इन सुधारकों ने जब अपने मत का उपदेश किया तो व्यक्तियों को उनकी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए किया। जब बुद्ध को प्रकाश मिल गया तो उन्होंने कहा कि मैं तब तक बार-बार जन्म लेना पसन्द करूँगा जब तक एक भी व्यक्ति मुक्ति से विरत रहेगा। वह भी मानवता को अलग-अलग व्यक्तियों के समूह के रूप में अनुभव करते थे। उनमें भी यह महत्वाकांक्षा न थी कि इसी दुनिया में और इसी काल में वस्तुओं के रूप में अन्तर लाने की आवश्यकता है।

इन महात्माओं के उदाहरण और उपदेश ने सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित किया पर बहुत थोड़े अंश में, और वह भी अप्रत्यक्ष रूप से। बाकी तो धार्मिक जीवन एक तरफ़ रह गया; भौतिक तथा सामाजिक जीवन दूसरी तरफ। दोनों के बीच खाई पड़ गई। उच्चात्माओं ने संसार तथा उसके सम्बन्धों को माया समझ कर त्याग दिया। बुद्ध ने राजाओं तथा राजकुमारों को अपनी अहिंसा का उपदेश किया, पर यह सब उनके व्यक्तिगत जीवन और मुक्ति के लिए। ईसाई धर्म संघ (चर्च) ने तो राजनीतिक नेताओं और संघटनकर्ताओं को गुरु (ईसा) द्वारा उपदिष्ट विश्वप्रेम और विश्वोदारता के नियम (कानून) के पालन और बन्धन से मुक्त कर दिया। जैनियों के सबसे अधिक अहिंसक सम्प्रदाय तक ने राजाओं एवं शासकों को अहिंसा सिद्धान्त के पूर्णार्थ का पालन करने से मुक्त कर दिया; पर इन राजाओं और शासकों में से किसी को व्यक्तिगत मुक्ति से इन्कार नहीं किया गया। इस प्रकार जो समाज मालिक और गुलाम में बँटा था उसके और भी टुकड़े हो गये—एक उन लोगों का जो दुनिया की राह पर चलते थे और दूसरा उन लोगों का जिन्होंने संसार का त्याग करके प्रभु के मार्ग का अनुसरण किया। सिर्फ़ इसी तरह दूसरा दल मुक्ति, समानता और प्रेम, जिसकी बाह्यतः संघटित समाज और उसके सम्बन्धों में कोई निश्चित सम्भावना न थी, को प्राप्त कर सकता था। यद्यपि उन्हें अपने मन के

अनुकूल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों को मोड़ने में सफलता न मिली किन्तु उन्होंने व्यक्ति के नैतिक महत्व और बाह्य जड़-कारी परिस्थितियों से उसकी स्वतंत्रता को बिना किसी सन्देह के प्रमाणित कर दिया। जीवन की चौरस सतह पर वे उच्च शृंगों की भाँति खड़े हुए। मानवता के लिए यह भी एक बड़ा लाभ था।

फिर भी संघटित समाज में उत्पीड़न और अन्याय तब तक बराबर चलते रहे जब तक कि सदियों की गहरी नींद से उठकर सामान्य मानव अपने मालिकों के खिलाफ़ खड़ा नहीं हुआ। इसी संघर्ष ने उस शासन-प्रणाली की स्थापना की जिसे हम प्रजा-सत्ता कहते हैं। प्रजा-सत्ता समाज में व्यक्ति के नैतिक मूल्य की स्थापना करती और उसकी समता पर ज़ोर देती है। इसके अलावा वह, कम से कम सिद्धान्ततः, व्यक्ति के राजनीतिक शोषण का अन्त कर देती है। प्रजासत्ता एक दल या समूह की आन्तरिक हिंसा को समाप्त कर देती है। उसमें किसी मामले का निर्णय सिरों को काट कर नहीं बल्कि उनको गिन कर होता है। प्रत्येक सिर एक मत का द्योतक होता है। प्रजासत्ता में वैकल्पिक शासन और आज्ञा-पालन की भी व्यवस्था की जाती है। वह उत्तरदायित्व पूर्ण स्वतंत्रता की स्थापना करती है। इस प्रकार प्रजातंत्र भौतिक और राजनीतिक तल पर एक नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि प्रजासत्तात्मक देशों के मेहनत-मजूरी करके पेट पालने वाले मजूरी के 'गुलाम' मजूर भी, 'सिर्फ़ जिनको अपनी शृंखलाएँ ही खोनी हैं', अपनी कठिनाइयों के हल-रूप में सर्वसत्ताक साम्यवादी व्यवस्था को मानने के लिए तैयार नहीं होते। बहुत कष्ट उठाकर उन्होंने वह राजनीतिक समता प्राप्त की है जो व्यक्ति के रूप में उनके सम्मान—मर्यादा—की गारंटी देती है। वे अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रता को एक ऐसी क्रान्ति के लिए खतरे में डालने को तैयार नहीं हैं जिसके परिणाम और पुरस्कार अनिश्चित हैं।

यदि राष्ट्रों की राजनीति में नव-प्राप्त प्रजासत्ताक सिद्धान्त के विकास

की पूर्ण सुविधा दी गई होती तो उसने आन्तरिक संघर्षों से राष्ट्रों की रक्षा की होती और कालान्तर में एक अखंड और ऐक्यपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में सहायता भी करती। शायद उसने क्रमशः समाज को सदाचरण शील बनाया होता। तब वैसे समाज में व्यक्ति को अपने उच्चतम आदर्शों की सिद्धि के लिए किसी जंगल या कुटी की शरण न लेनी पड़ती। पर समाज की प्रगति कभी सीधी रेखा की तरह नहीं होती। उसका मार्ग अत्यन्त वक्र—टेढ़ामेढ़ा—होता है। कभी वह आगे बढ़ता है, कभी पीछे हटता है। जैसे उधर मानवता ने प्रजासत्ता के सिद्धान्त का आविष्कार किया, इधर भाप, बिजली और प्रकृति की अन्य शक्तियों की शोध हुई। इनके तथा नये देशों की खोज ने औद्योगिक क्रान्ति और आधुनिक साम्राज्य को जन्म दिया। इन नई शक्तियों ने जो तब्दीलियाँ कीं उनका वर्णन किया जाय तो लम्बी कहानी हो जायगी। आज भी उनका अन्त नहीं हुआ है—उनका क्रम जारी है। औद्योगिक क्रान्ति ने चाहे जो लाभ पहुँचाया हो, इसमें सन्देह नहीं कि उसने प्रजासत्ता के फायदों को करीब-करीब नष्ट कर दिया। उसने पुराने विभेदों और असमानताओं को एक नई जमीन पर—आर्थिक जमीन पर पुनः जन्म दिया। उसने समाज को धनी और निर्धन, मशीन-मालिकों और मजूरी के गुलामों, सम्पन्न मध्यवर्ग और श्रमिक वर्ग में विभाजित कर दिया। ऐसे समाज में मानव के सम्मान या मर्यादा की स्थापना करने वाला प्रजासत्तात्मक मत खिलवाड़ और पाखंड हो गया। इसलिए अब हमारे सामने पुनः पुरानी प्रतिकूलताएँ, परस्पर-विरुद्धताएँ, पैदा हो गईं—केवल इतना अन्तर हुआ कि उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र से हटकर आर्थिक क्षेत्र पर अड्डा जमाया। पहले राजनीतिक सत्ता आर्थिक कुशलता की रक्षक थी, अब आर्थिक शक्तियाँ राजनीतिक शक्ति की रक्षा करती हैं। फिर वही दृश्य दिखाई पड़ा—अनैतिक समाज में नैतिक मनुष्य!

मानवता की रक्षा के लिए प्रजातंत्र के साथ किसी और सिद्धान्त का चलाना जरूरी हो गया। इसलिए आर्थिक समानता के सिद्धान्त का

आविष्कार हुआ और हमारे सामने समाजवाद का सिद्धान्त आया। समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में मानव की समानता की घोषणा करता है। इस रूप में यह एक नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त है। पर इसका समर्थन करने में इसके प्रचारकों ने एक भौतिक सिद्धान्त रूप में इसकी घोषणा की और कहा कि यह उसी समाज में संभव है जहाँ सम्पूर्ण नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का खात्मा कर दिया गया हो। उन्होंने इस नये सिद्धान्त को प्रजातंत्र के विरुद्ध भिड़ा दिया। विज्ञान तथा यांत्रिक एवं केन्द्रित महाउद्योगों के युग में उत्पन्न आधुनिक समाजवाद कसे हुए शिशु-वस्त्रों से अपने को अलग न कर सका। इसके समर्थकों ने प्रजातंत्र को भ्रमवश पूँजीवाद से मिला दिया। वे यह भूल गये कि स्वतंत्र और उत्तरदायी व्यक्ति का विनाश करके पूँजीवाद ने प्रजातंत्र को सबसे अधिक क्षति पहुँचाई है। मानवता के पुराने लाभ (प्रजातंत्र) की कीमत पर नये सिद्धान्त की स्थापना की गई। अपनी सम्पूर्ण आनुषंगिक बुराइयों-सहित पूँजीवाद को व्यक्ति-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त से एक समझ लेने का भ्रम पैदा किया गया। इसलिए जो इलाज ढूँढ़ा गया उसमें न केवल कु-नियंत्रित और अव्यवस्थित व्यक्तित्व को, बल्कि स्वयं व्यक्तित्व को ही नष्ट कर दिया गया। मार्क्सवादी के लिए व्यक्ति केवल सामाजिक सम्बन्धों का मेल है। जो इलाज बताया गया वह खुद रोग से भी बुरा है। वह तो रोग के साथ रोगी को भी खत्म कर देता है। व्यक्ति के इस विनाश को औपपत्तिक वा सैद्धान्तिक रूप से उचित सिद्ध कर देना सरल न था। इसलिए हमें आश्वासन दिया गया कि मार्क्सवादी क्रान्ति के आगमन के बाद व्यक्ति का मुर्दा पुनः जीवित हो उठेगा। आध्यात्मिक पुनर्जीवन में जिन लोगों का विश्वास नष्ट हो चुका था, उन्होंने भौतिक तल पर उसी का विश्वास हमें दिलाया!

समाजवाद के नये सिद्धान्त को हम रूस में, जिसने आर्थिक क्षेत्र में एक प्रकार की समता क़ायम कर दी है, कार्यशील देखते हैं। पर इस आर्थिक समानता के लिए व्यक्तिगत प्रेरणा और स्वतंत्रता की बहुत कुछ

बलि देनी पड़ी है। और यह स्वाभाविक है क्योंकि इस नये सम्प्रदाय में समाज से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। इस, तथा और भी बहुत सी बातों, में साम्यवाद और फासिज्म एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। फैसिज्म व्यक्ति को राष्ट्र या समाज-शरीर का एक जीवकोश ('सेल') मानता है। साम्यवाद व्यक्ति को संयुक्त विश्व-श्रमिक जनता का एक जीवकोश मानता है। जब तक सम्पूर्ण संसार की श्रमिक-जनता मिलकर एक में संघटित नहीं हो जाती और जब तक वह स्वयं शक्तिमान नहीं होती तब तक रूस में रहने वाला एक व्यक्ति रूस के समाज-शरीर का उसी प्रकार एक जीवकोश है जिस प्रकार जर्मनी या इटली का व्यक्ति है। इन दोनों, साम्यवादी और फासिस्ट देशों में व्यक्ति महत्तर संघटन की संकल्प-साधना के कार्य में उसी प्रकार स्वतंत्र है जैसे एक जीवकोश मानव-शरीर में स्वतंत्र है। उसकी अपनी कोई इच्छा या जीवन नहीं है।

आर्थिक क्षेत्र की बोल्शेवी समानता महत् केंद्रित और यांत्रिक उद्योग तथा कृषि पर निर्मित की गई है। स्वभावतः यह केंद्रीकरण राजनीतिक क्षेत्र को भी प्रभावित करता है। नौकरशाही शासन इसका परिणाम है। हो सकता है कि सत्ताधारियों के हाथ में प्रत्यक्ष रूप से अनुचित आर्थिक सुविधाएँ न हों (इटली और जर्मनी में भी ऐसा ही है); पर पदाधिकार के कारण उनको ऐसी सुविधाएँ हैं जिनका महत्त्वपूर्ण आर्थिक मूल्य है। इसके अलावा सत्ता के अहंकार को रोकने के लिए वहाँ कुछ नहीं है। निस्संदेह बाह्य प्रतिबन्ध हैं। पर वे मानव की अहंकारपूर्ण आत्मप्रशंसा में, वस्तुओं की जड़ तक पहुँचने में असमर्थ हैं। राज्य-संघटन में कुछ पद दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व के होंगे ही। पहले के राजतंत्र, कुलीनतंत्र और सर्वाधिकारतंत्र कुछ संकुचित दायरे में काम करते थे और आन्तरिक कर्म-क्षेत्र स्वतंत्र तथा सत्ता से अछूता ही रहता था; उसमें सत्ता की ओर से विरोध हस्तक्षेप न होता था। जैसा कि हम जानते हैं, साम्यवाद के अन्तर्गत

आन्तरिक स्वतंत्रता का यह क्षेत्र खत्म कर दिया गया है। इसलिए प्रजातंत्र में जो स्थिति थी, उससे इस मामले में वहाँ की स्थिति और खराब ही है।

रूस के जिस स्थानीय स्वायत्त शासन की बड़ी बात सुनी जाती है वह व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त में ही अधिक पाई जाती है। जब सम्पूर्ण उद्योग, व्यापार और कृषि, जब समाज का सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय पैमाने पर सघटित है तब नवीन समाज-व्यवस्था को प्रभावित करने में स्थानीय इकाइयों या घटकों का बहुत ही कम हाथ होगा; स्वभावतः स्थानीय घटकों में आवश्यक जानकारी या कौशल का अभाव होगा। कुलकों के विनाश-साधन के क्रम में यह काफ़ी स्पष्ट हो गया था। स्टालिन के शासन में क्रान्ति के निर्माताओं के साथ जो व्यवहार किया गया उसी से वहाँ कितनी राजनीतिक स्वतंत्रता है, इसका प्रमाण मिलता है। रूस की वर्तमान वैदेशिक नीति से ही भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि स्थानीय इकाइयाँ उच्च राज-नीतियों के निर्माण में कितना प्रभाव रखती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूसी कूटनीति उतनी ही वक्र एवं जटिल रही है और है जितनी पूँजीवादी और फासिस्त देशों की कूटनीति। खुली राजनीति का सिद्धान्त और इसी प्रकार के और सब सिद्धान्त, जिनके आधार पर एक नये युग का सूत्रपात होने का विश्वास हमें दिलाया जाता था, आज हवा हो गये हैं। फिर भी वफादार और निष्ठावान लोगों को ये सब बातें उचित ही प्रतीत होती हैं। जब हम याद करते हैं कि साम्यवाद ने अपने सामने जो समस्याएँ रख छोड़ी हैं उनके समाधान में नैतिक विचारों का कोई स्थान नहीं है तो हमें इस परिणाम पर कुछ आश्चर्य नहीं होता।

आधुनिक प्रजातंत्र का जन्म वैज्ञानिक शोध की प्रगति के साथ हुआ। वैज्ञानिक शोध ने नैतिक और आध्यात्मिक विचारों को एक ओर धकेल दिया। ऐसी परिस्थितियों में प्रजातंत्र केवल एक राजनीतिक सांघटनिक योजना बनकर रह गई। नैतिक उत्तरदायित्व से रहित व्यक्ति-स्वातंत्र्य ने अस्तव्यस्तता का, अव्यवस्था का तत्त्व पैदा कर दिया।

इस प्रकार जो भ्रम पैदा हुआ वह औद्योगिक क्रांति के आगमन से और गहरा हो गया। स्वतंत्र मनुष्यों को बाँधने वाला एक मात्र बंधन कानूनी इकरारनामे का बंधन रह गया। यदि इस कानूनी इकरारनामे के कारण दुर्बलतम का उच्छेद हो गया तो यह 'योग्यतम की जीवन-समृद्धि' ('सर्वाइवल आव् दि फिटेस्ट') वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुकूल ही तो होगा! अगर आदमियों के हृदय में केवल स्वार्थ का भाव हो तो उसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाला स्वार्थ, किसी अद्भुत् कीमिया से परोपकार-वृत्ति में बदल जायगा! मनुष्य परिपुष्ट एवं विकसित व्यक्ति होने के बजाय, जैसा कि वह सचमुच है, सिर्फ आर्थिक मनुष्य बनकर रह गया। मार्क्सवाद ने उसे सामाजिक सम्बन्धों के पुंज के रूप में परिवर्तित कर दिया।

अभी हाल की बात है कि जब प्रजासत्ता के सिद्धान्त को बहुत बड़े खतरे में पड़ा समझा गया तब उसके प्रचारकों ने धुँधले रूप में अनुभव करना शुरू किया है कि यह न केवल एक राजनीतिक योजना है बल्कि एक महान् नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त भी है। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि इस सिद्धान्त का त्याग मानवता को प्रत्यावर्त्तन की ओर, अवनति की ओर, पीछे की ओर ले जायगा। यह भी अनुभव किया जा रहा है कि न केवल प्रजातंत्र का सिद्धान्त वरं समाजवादी सिद्धान्त भी एक नैतिक सिद्धान्त है। दोनों भौतिक तल पर मानव की मर्यादा—सम्मान—के रक्षण के लिए हैं। यदि इन दोनों सिद्धान्तों को निराकार या बिना किसी तत्त्व के, नहीं रहना है तो उन्हें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में स्थापित करना ही पड़ेगा।

गांधी जी अपने जीवन-दर्शन से यही करना चाहते हैं। मानव की नैतिक उत्पत्ति और नियति में उनका विश्वास है। एक नैतिक समाज में औसत स्त्री-पुरुष द्वारा इस नियति को कार्यान्वित करना पड़ेगा। व्यक्तिगत और सामाजिक, आन्तरिक और बाह्य जीवन को अहिंसा, सत्य और न्याय के सिद्धान्तों से प्रकाश और पथ-प्रदर्शन ग्रहण करना होगा। ऐसा

संभव हो, इसके लिए आवश्यक है कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों में साधन भी उतने ही शुद्ध—पवित्र—हों जितना साध्य। यदि एक मनुष्य के लिए समस्त संसार का वैभव प्राप्त करने में भी अपनी आत्मा को खोना श्रेयस्कर नहीं है तो एक राष्ट्र के लिए भी—उसी प्रकार, समस्त संसार को प्राप्त करने में अपनी आत्मा को खो देना कल्याणकारी नहीं है। नैतिक समाज के पास अपनी उचित बाह्य, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं—संघटनों—का होना आवश्यक है। गांधी जी की चेष्टा है कि इनकी व्यवस्था में मानवता के लिए प्रजातंत्र और समाजवाद के नैतिक तथा भौतिक लाभों को ग्रहण कर लिया जाय। पर मार्क्स के ठप्पे का समाजवाद अपने अति-केंद्रीकरण और साध्य-साधन से नैतिक सिद्धान्तों का निराकरण करके व्यक्ति को पीस डालता है—फिर चाहे वह उसे भौतिक वस्तुओं से कितनी ही अच्छी तरह आच्छादित कर दे। भौतिक वा शारीरिक दृष्टि से भूखी-प्यासी मरती मानवता चाहे नैतिक लक्ष्य की पर्वा न करे और फिलहाल दिन में दो बार पर्याप्त भोजन मिलने से सन्तुष्ट हो जाय पर न तो व्यक्ति और न समाज ही केवल रोटी के सहारे अधिक दिन तक रह सकता है। कल्याण के शारीरिक साधनों को रखते हुए भी उन्हें दूसरे ऊँचे लक्ष्यों को अपनाना पड़ेगा।

साम्यवादी व्यवस्था में केन्द्रीकरण की जो अति है, उसका इलाज गांधी जी द्वारा प्रतिपादित गृह और ग्राम-उद्योग तथा विकेन्द्रित कृषि और व्यवसाय द्वारा हो जायगा। इसलिए उनके लिए विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त एक नैतिक सिद्धान्त है। वह विविध क्षेत्रों में स्वतंत्र निर्वाचन या पसंदगी को उत्तेजन देता है। वह एक बढ़े हुए क्षेत्र में व्यक्ति के संकल्प-बल के प्रयोग को सम्भव बनाता है। वह स्वतन्त्र सम्मति के निर्माण और अभिव्यक्ति के लिए बाह्य संभावनाएँ भी उत्पन्न करता है। समाजवादी लोग भौतिक वस्तुओं की बहुलता और सब में उनके सम-विभाजन का जो आकर्षक चित्र सामने रखते हैं उससे धोका खाने से गांधी जी इन्कार करते हैं।

व्यक्तित्व के विनाश से जो नैतिक हानि होगी उसकी पूर्ति इस बहुलता से नहीं हो सकती। गांधी जी इतने व्यावहारिक हैं कि आधुनिक सभ्यता की आवश्यकता-पूर्ति के लिए कुछ न कुछ केंद्रित उद्योग की जरूरत होगी इससे वह इन्कार नहीं करते। पर वह इतने नीतिमान और मानवीय भी हैं कि स्वतंत्र व्यक्ति को मशीन द्वारा निगल लिये जाते नहीं देख सकते। जब कभी केंद्रित उत्पत्ति की आवश्यकता हो, तब वह समाज के हाथ में, समाज के नियंत्रण में होनी चाहिए।

देशान्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का मार्गदर्शन सत्य और अहिंसा-द्वारा होना चाहिए। गुप्त कूटनीति और शस्त्रीकरण का त्याग होना चाहिए। राजनीतिक सत्ता हाथ में रखने वालों को अपनी जनता का सेवक होना चाहिए। उनका आर्थिक जीवन राष्ट्र में प्रचलित आराम के औसत मान के समकक्ष ही होना चाहिए। कोई काम या पेशा ऊँचा-नीचा नहीं समझा जाना चाहिए बशर्ते वह उस सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति करता हो जिसके लिए वे बनाये गये। चाहे कोई श्रमिक कितना ही छोटा हो, उसे न केवल उचित मजदूरी मिलनी चाहिए बल्कि उचित सम्मान भी प्राप्त होना चाहिए।

संक्षेप में, इसी प्रकार गांधी जी राजनीति और अर्थशास्त्र को आध्यात्मिक रंग देना चाहते हैं। राजनीतिक प्रजातंत्र और आर्थिक समाजवाद के मूल में न्याय और समानता के जो महान् नैतिक सिद्धान्त निहित हैं उनका, इसी प्रकार, मानवता के लिए गांधी जी उपयोग करना चाहते हैं। नैतिक मनुष्य के लिए एक नैतिक समाज का निर्माण करने के ठोस उद्देश्य से ही उनके सब व्यावहारिक कार्यक्रम परिचालित होते हैं। व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए उनका जीवन-दर्शन राजनीतिक प्रजातंत्र और आर्थिक समाजवाद के सम्पूर्ण नैतिक, भौतिक और सांघटनिक लाभों को एक साथ लेकर चलता है। इस प्रकार वह आधुनिक मानवीय इतिहास की विभिन्न धाराओं के सरल और सारांश रूप में सामने आता है। वह एक नई अहिंसात्मक क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील है और इतिहास में एक नये युग का आविर्भाव करता है।

इस नूतन क्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रकाश में व्यक्ति और समाज को शिक्षित करने के लिए ही उन्होंने शिक्षा की नूतन प्रणाली हमारे सामने उपस्थित की है। इसके द्वारा उन्होंने हमें शिक्षण की प्राकृतिक और वैज्ञानिक प्रणाली तो प्रदान की ही है, व्यक्ति और समाज के लिए उसे योग्य एवं श्रेष्ठ उद्देश्य भी प्रदान किये हैं। इसी प्रकाश में उनकी शिक्षण-योजना पर विचार किया जाना चाहिए।

: १८ :

गांधी-मत

सत्य और अहिंसा पर आधारित तथा त्याग और तपस्या का जीवन बिता कर निष्काम दृष्टि से किये जाने वाले नैतिक कार्यों के सम्बन्ध में गांधी जी के आदर्श किसी धर्म या दर्शन आदि पर आधारित नहीं हैं।

परन्तु जिन आदर्शों के अनुसार वे अपना जीवन बिताते हैं तथा जिनका वे प्रचार करते हैं वे हिन्दू धर्म से लिये गये हैं। उन्होंने वे आदर्श उपनिषदों तथा गीता से पाये हैं। उन्होंने सन्तों तथा ऋषियों के जीवन में उन आदर्शों को मूर्तरूप में पाया है। वे उनके कुल धर्म पर आधारित हैं। गांधी जी का विश्वास है कि ये आदर्श परिस्थिति तथा भाषागत भेदों के साथ संसार की सभी सभ्य जातियों के धर्मों तथा दर्शनों में पाये जाते हैं।

परन्तु वे उन पर योंही यकीन नहीं कर लेते। वे केवल श्रद्धा-वश उन पर विश्वास नहीं करते। वे इन आदर्शों को जीवन पर आधारित देखते हैं। वे उन्हें बुद्धिसंगत पाते हैं। उनके व्यक्तिगत अनुभव भी उन आदर्शों की पुष्टि करते हैं। परन्तु वे अपने कुल-धर्म की अनेक बातें नहीं मानते

अथवा उन्हें परिवर्तित रूप में स्वीकार करते हैं। जो बातें सत्य और अहिंसा तथा मानव-बुद्धि के विपरीत नहीं हैं, उन्हें वे अस्वीकार नहीं करते। वे दार्शनिक तथा धार्मिक पचड़ों में नहीं पड़ते। बुद्ध की तरह वे चरम सत्ता का चिंतन व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं मानते। उनका विश्वास है कि बुद्धि अथवा तर्क अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों से ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसकी सत्ता को केवल श्रद्धा पर ही आश्रित किया जा सकता है, परन्तु ऐसी श्रद्धा जो बुद्धि के विपरीत नहीं, बल्कि बुद्धि से परे जाती हो।

इसीलिए गांधी जी के लेख तथा भाषण दार्शनिक तथा धार्मिक विवादों से मुक्त रहते हैं। वे तथ्यों पर आधारित रहते हैं। उनमें मुख्यतया तात्कालिक समस्याओं की चर्चा रहती है। वे जो भी सामान्य सिद्धान्त अथवा आदर्श निरूपित करते हैं, उसके पीछे उपस्थित समस्याओं पर उनका अध्ययन रहता है, जिन पर वे एक समाज-सुधारक की हैसियत से विचार करते हैं।

जब कभी वे आध्यात्मिक चर्चा करते हैं तो उससे उनका तात्पर्य किसी किसी विशेष धर्म, मत या उपासना-पद्धति आदि से नहीं रहता। वे आध्यात्मिकता को नैतिकता का पर्याय मानते हैं। उनकी दृष्टि में धार्मिक तथा नैतिक जीवन में कोई अन्तर नहीं है। कुछ सिद्धान्तों में विश्वास करने के कारण मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन जाता, उसके लिए सत्कर्म करना तथा सदाचारपूर्ण जीवन बिताना आवश्यक है। बिना कर्म के श्रद्धा खोखली होती है।

ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में गांधी जी कहते हैं:—"कोई व्यक्ति यदि अपनी आत्मा में ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता है, तो वह जीवित श्रद्धा के द्वारा ही कर सकता है। श्रद्धा के लिए बाहरी प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है. अतः सबसे सरल उपाय यह विश्वास रखना है कि सारा संसार एक नियम में बँधा है, और सत्य और प्रेम का नियम सर्वोपरि है।" एक दूसरे प्रसंग में उन्होंने कहा है—"यदि मैं 'अपने जीवन की

बलि देकर भी पाप से युद्ध नहीं करूँगा तो मैं कभी ईश्वर को नहीं जान सकूँगा....मैं अपने को जितना ही पवित्र बनाऊँगा, उतना ही अपने को ईश्वर के निकट अनुभव करूँगा।"

गांधी जी का विश्वास है कि मनुष्य जब तक देहधारी है तब तक वह सदाचरण के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। सदाचरण से उनका तात्पर्य मूलभूत सिद्धान्तों से है, कुछ विशेष आदतों, रीति-रिवाजों तथा संस्थाओं से नहीं, जो मनुष्य के ज्ञान तथा अनुभव में वृद्धि के साथ बदलती रहती हैं। यदि कोई अपना विश्लेषण करे तथा ईमानदारी से अपनी प्रवृत्तियों तथा अपने आचरणों की विवेचना करे तो उसे पता चलेगा कि नैतिकता के कुछ मूल-भूत सिद्धान्त हैं जो समय के साथ बदलते नहीं।

गांधी जी का विश्वास है कि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से चाहे जितना ऊँचा उठा हो, वह नैतिकता के मूलभूत सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह केवल रीति-रिवाजों तथा नैतिकता के परम्परागत विचारों की अवहेलना कर सकता है। कोई भी व्यक्ति पाप और पुण्य से ऊपर नहीं उठ सकता, वह निस्संग भाव से अथवा ईश्वर की इच्छा समझता हुआ कर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। मुक्त जीव के लिए कोई प्रश्न नहीं रहता कि वह कौन कर्म करता है; वह क्यों पाप और पुण्य की चिन्ता करे? एक औसत व्यक्ति के लिए सदाचरण का पालन करने से यह लाभ रहता है कि वह पथभ्रष्ट नहीं होने पाता। सदाचारों का सामाजिक मूल्य भी होता है। उनसे समाज का संगठन होता है। अतः यदि मुक्त पुरुष के लिए चाहे पाप और पुण्य का विचार करने की आवश्यकता न हो, परन्तु उसे लोक-संग्रह के लिए सदाचारों का पालन करना चाहिए। सत्य तो यह है कि, जैसा कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने बार-बार कहा है, पूर्णता प्राप्त करने वाला पुरुष कोई पाप कर्म कर ही नहीं सकता। वह ऐसा उसी प्रकार नहीं कर सकता, जिस प्रकार एक कुशल नर्तक गलत पैर नहीं रख सकता अथवा एक कुशल संगीतज्ञ बेसुरा नहीं जा सकता।

गांधी जी आध्यात्मिक जीवन के लिए सदाचरण मूल को मानते हैं।

अन्य सभी बातें, जैसे ईश्वर में विश्वास, आत्मा में विश्वास या अविश्वास, जड़ और चेतन का सम्बन्ध, इहलोक और परलोक का सम्बन्ध, यदि परलोक हो तथा ऐसे ही अन्य प्रश्न व्यक्तिगत विश्वास तथा रुचि की चीजें हैं। गांधी जी की दृष्टि में जो लोग सदाचरण का पालन करते हैं वे चाहे किसी मत या धर्म के मानने वाले हों या न हों, वे चाहे अपने को ईश्वरवादी कहें या अनीश्वरवादी, वे मुमुक्षु कहे जा सकते हैं।

यद्यपि गांधी जी सदाचरण में विश्वास रखते हैं, परन्तु उन्होंने किसी दर्शन या आचारशास्त्र की रचना नहीं की है। उनका विश्वास है कि मनुष्य में सदाचरण की स्वाभाविक वृत्ति होती है और वह उसका विकास कर सकता है, परन्तु उन्होंने अपने मत के अनुसार किसी सिद्धान्त को रचना नहीं की है।

उन्होंने सत्य तथा अहिंसा के अनुसार सदाचरण के सिद्धान्तों का अपने जीवन में पालन करके ही सन्तोष किया है। उन्होंने पाया है कि ऐसा सदाचरण व्यावहारिक होता है। इससे वे अपने पर संयम तथा अंकुश रखने में सफल हुए हैं। इससे वे अपना चरित्र निर्मल बना सके हैं। इससे वे अत्यन्त थका देने वाले तथा उत्तेजित कर देने वाले कार्यों के बीच भी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। इससे उन्हें संतोष प्राप्त हुआ है। इससे वे अपने जीवन की महत्वाकांक्षाएं पूरी कर सके हैं। इसके जरिये उन्हें प्रिय, श्रद्धालु, तथा स्नेह-परायण मित्र, सहयोगी तथा सहकर्मी मिल सके हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि उनका कोई शत्रु नहीं है, क्योंकि वे किसी से शत्रुता का भाव नहीं रखते। इससे वे स्वर्ण की पूजा करने वाले युग में सांसारिक वस्तुओं का मोह त्याग सकने में सफल हुए हैं। इससे वे निर्विकार बन सके हैं, कोई अहंकार या मद रखते हुए नहीं, बल्कि विनम्रता रखते हुए। संक्षेप में इससे वे अपने करोड़ों देश-वासियों की दृष्टि में एक आत्मा से महात्मा बन सके हैं, यद्यपि वह अपने को एक अपूर्ण मनुष्य ही मानते हैं। उन्होंने अपने को जीत कर संसार को जीत लिया है। वह आकाश में विचरते हैं, परन्तु उनके पैर सदा जमीन पर रहते

है। वह स्वयं आनन्दमय है और दूसरों का आनन्दित करते हैं। यद्यपि वह एक नश्वर प्राणी है, परन्तु उनकी गणना संसार के के अमर प्राणियों में होती है।

: १६ :

वर्तमान अराजकता और गांधी-मार्ग

मैं गांधी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि इससे अधिक अच्छी रीति से नहीं अर्पित कर सकता कि जो कुछ आज हो रहा है उसके प्रसंग में, अपने मामूली ढंग से, मैं उनके सन्देश के महत्व की व्याख्या करूँ। हमारे चारो ओर फैले अन्धकार में केवल उन्हीं की प्रकाश-किरण मार्ग का निर्देश करती है। जो भ्रम और गड़बड़ी फैली हुई है उसके बीच एक उन्हीं की आवाज़ है जो लड़खड़ाती नहीं है। हममें उस रास्ते पर चलने और उस आवाज़ को सुनने की बुद्धिमत्ता और शक्ति न हो परन्तु हमारे लिए उचित है कि हम जानें और समझने की चेष्टा करें कि रास्ता हमें कहाँ ले जाता है और वह आवाज़ क्या कहती है। यह उसके प्रति हमारा कम से कम कर्तव्य है, उसके प्रति जिसने एक बार हमें विजय तक पहुँचा दिया है और जिसे सारा संसार राष्ट्र-पिता कह रहा है।

गांधी जी साम्प्रदायिक समस्या को उसी प्रकार हल करना चाहते हैं जिस प्रकार उन्होंने स्वतंत्रता की समस्या अहिंसा-द्वारा हल की। यह स्वाभाविक है। पर अब तक उनका अनुगमन करने और उनके साथ काम करने वालों में बहुत से ऐसे हैं, फिर चाहे वे सरकार के अन्दर हों या बाहर, जिनका विश्वास है कि यह समस्या शुद्ध अहिंसा से नहीं हल

की जा सकती। उनका विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश शासन के साथ लड़ाई करते समय वे एक ऐसे संगठन से लड़ रहे थे जिसका कुछ रूप और आकार था और जिसके मोटे तौर पर निश्चित काम के कुछ तरीके थे। अहिंसात्मक प्रतिरोधकर्त्ता को एक ऐसी सस्था से लड़ना पड़ रहा था जो चाहे कितनी ही अत्याचारी रही हो पर उसमें कानून-कायदे का कुछ न कुछ अंश था। उसमें कुछ परम्परागत शिष्टता थी। प्रायः वह आर्डिनेंसों के द्वारा शासन करता था। ये बुरे और निर्दय थे; फिर भी क़ानून तो थे। बुरा क़ानून भी कोई कानून न होने से तो अच्छा ही है; वह अराजकता और भ्रम से तो अच्छा ही है। बुरा क़ानून कम से कम आपको यह तो बता देता है कि आप कहाँ खड़े हैं, आपकी स्थिति क्या है। वह आपके अन्दर कुछ आशाएँ, अभिलाषाएँ, पैदा करता है और आप चाहें तो आपको उससे सम्पर्क हो जाने का मौक़ा भी प्रदान करता है। पर विप्लव या अराजकता तो निराकार, अरूप होती है। वह जीवन को अनिश्चित और संकटपूर्ण बना देती है। वह भय और ऐसी चिन्ता-तुरता पैदा कर देती है जो विचार-शक्ति को शिथिल और कर्म को कठिन बना देती है। वर्तमान साम्प्रदायिक विस्फोट ने अराजकता का राज्य फैला दिया है। यहाँ हमारा पीठ में—पीछे से—छुरा मारने वालों और अँधेरे में हत्या करने वालों से काम पड़ता है जो स्त्री, बच्चे, दुर्बल—अपाहिज किसी को नहीं छोड़ते। उनके पास इज्ज़त-आबरू का कोई निश्चित नियम—'कोड'—नहीं है। वे किसी शासन, किसी क़ानून, किसी सदाचरण या नीति को नहीं मानते।

वीरों और निर्भयों का सत्याग्रह और अहिंसा

फिर विदेशी शासन से लड़ते समय भारत एक ऐसी अल्पसंख्यक जाति से लड़ रहा था जिसके पास शारीरिक और संघटनिक शक्ति थी पर संख्या-बल विशेष नहीं था। वह शासन करने वाला अल्पमत जनता के सहयोग पर निर्भर करता था, जैसे मिल या कारखाना अपने मजूरों के सहयोग पर निर्भर करता है। इसलिए इस सहयोग को हटा लेने के सरल

क्रम-द्वारा सरकार को पंगु बना देना संभव था। औद्योगिक हड़ताल की भाँति सफल होने के लिए इस तरह के असहयोग का भी अहिंसात्मक होना आवश्यक था। एक ऐसी जाति के लिए जो निःशस्त्र कर दी गई हो और जिसे कभी शस्त्रों के उपयोग की शिक्षा न दी गई हो तो वह और आवश्यक है। निस्सन्देह गांधी जी केवल असहयोग या शरीर मात्र से अहिंसात्मक प्रतिरोध नहीं चाहते थे। उनका लक्ष्य इससे महत्तर, श्रेष्ठ, कहीं अधिक निश्चित और शक्तिमान वस्तु की ओर था। वह सत्याग्रह, वीर और निर्भय का अहिंसात्मक और सत्यमय प्रतिरोध, चाहते थे, उन दुर्बलों का प्रतिरोध नहीं जिन्होंने शारीरिक आवश्यकता-वश शांतिमय उपायों को ग्रहण कर लिया हो। यह बात सुविदित है कि कांग्रेस ने गांधी जी की अहिंसा के सिद्धान्त के सम्पूर्ण निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस के नीति-धर्म में सदस्यों को अहिंसात्मक और सत्यमय साधनों के प्रति नहीं, उचित और शांतिमय साधनों के उपयोग के प्रति निष्ठावान रहने को कहा गया है। यह अन्तर महत्वपूर्ण है।

इस अन्तर को गांधी जी जानते थे। फिर भी व्यवहार में उन्होंने इस मर्यादा को स्वीकार कर लिया। पर वह सदा मन, वचन और कर्म की अहिंसा पर ज़ोर देते रहे। इस विषय में गांधी जी ने प्राचीन प्रवक्ताओं—नबियों—और सुधारकों का अनुसरण किया, जो औसत अनुयायी के बाह्य नियमों के पालन पर इस आशा से सन्तोष कर लेते थे कि इस प्रकार के कर्म से सत्याचरण का जन्म होगा और धीरे-धीरे मन भी बदल जायगा। गांधी जी की आशाएँ एक दम झूठी तो नहीं सिद्ध हुईं। जिन लोगों ने यह समझकर उनका साथ दिया था कि वर्तमान स्थिति में ब्रिटेन के साथ लड़ने के लिए अहिंसात्मक लड़ाई सबसे प्रभावशाली उपाय है, उनमें से अनेक ने चैतन्यपूर्वक इसका अभ्यास करने के बाद सत्याग्रह या वीरों की अहिंसा के सौन्दर्य और लाभ को अनुभव किया। उनके लिए अहिंसा केवल नीति या 'पालिसी' नहीं है बल्कि एक ऐसा नैतिक धर्म है जिसका त्याग नहीं किया जा सकता और जिसके पथ-दर्शन

में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक—का प्रत्येक कार्य किया जाना चाहिए। परन्तु अधिकांश कांग्रेसियों के लिए सत्याग्रह अहिंसात्मक युद्धकौशल का एक साधन मात्र था, जिसका वे यंत्रवत् अनुसरण करते थे। जैसे हड़ताल चलती है, वैसे ही यह भी चला। हड़ताल की ही भाँति वह भी खतरे और कठिनाई के अवसरों पर असफल सिद्ध हुआ और तेजी से दबा दिया गया। इन कठिनाइयों ने यद्यपि स्वतंत्रता-युद्ध को लम्बा कर दिया पर स्थायी रूप से आन्दोलन को दबा न सकीं। प्रत्येक हार ने अन्तिम विजय के पथ-निर्माण का कार्य किया।

पर वर्तमान सम्प्रदायिक उपद्रव में हमें किसी स्थापित सरकार या संघटित दल का भी विरोध नहीं करना है वरं जैसा कि हमने कहा है, हमें एक निराकार, कानून-हीन विद्रोह या अराजकता का विरोध करना है। यह संघर्ष तुच्छ अल्पमत के विरुद्ध बहुमत का संघर्ष भी नहीं है बल्कि बहुमत के विरुद्ध आम तौर पर एक बहुत क्षुद्र अल्पमत का संघर्ष है। और किसी अल्पमत का असहयोग तभी कुछ प्रभावकारी हो सकता है यदि सामाजिक निर्माण में उसकी देन ऐसी मौलिक हो कि उसे आसानी से दूर न किया जा सके या न बदला जा सके। हिंदू, मुसलमान, सिख—इन तीन जातियों में कोई भी जहाँ अल्पमत में हैं वहाँ उनका सम्पूर्ण समाज के जीवन पर इस प्रकार का कोई प्रभाव नहीं है। इसलिए केवल शारीरिक हड़ताल या असहयोग कारगर नहीं हो सकता। बल्कि इसके कारण बहुमत में अधिक प्रभावपूर्ण बदले की प्रवृत्ति होगी। तब इलाज क्या है? इलाज अहिंसा को छोड़ देना नहीं है, बल्कि उसके अधिक सत्यमय, जीवनमय और गतिशील रूप को, जिसे गांधी जी सत्याग्रह कहते हैं, ग्रहण करना है।

सत्याग्रह में दृढ़ और अमर निष्ठा

इसलिए आज गांधी जी जिस बात पर जोर देते हैं वह अहिंसा अथवा सत्याग्रह का केवल यंत्रवत् पालन करना नहीं बल्कि उसके अन्दर

दृढ़ और अमर निष्ठा होना है। दूसरे शब्दों में दुर्बलों की अहिंसा नहीं (यद्यपि सैनिक दृष्टि से देखने पर वह दुर्बल भी वीर समझा जा सकता है) बल्कि बलवानों की अहिंसा।

आज गांधी जी सदा से अधिक यह अनुभव करते हैं कि अभी तक जो कुछ उन्होंने राष्ट्रीय युद्ध के लिए स्वीकार कर लिया था वह सच्चा सिक्का नहीं था। उन्होंने सत्याग्रह और असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोध के बीच के अन्तर पर ध्यान नहीं दिया था। वह अनुभव करते हैं कि प्रकृति ने अपना काम पूरा करने के लिए उन पर माया का पर्दा डाल दिया था अन्यथा उनको इस बात के पर्याप्त प्रमाण बारम्बार मिल चुके थे कि जो कुछ उन्हें मिल रहा है वह मूल का ओछा नकल मात्र है। कांग्रेसी अंग्रेजों से अहिंसात्मक ढंग पर युद्ध कर रहे थे अवश्य, पर उनके हृदय में घृणा भरी हुई थी। उनमें अंग्रेजों या उनके स्वार्थी हिन्दुस्तानी एजेंटों के लिए कोई प्रेम नहीं था। जब-जब बहुत ज्यादा उत्तेजना मिली तब तब लोग हिंसा की ओर लुढ़क पड़े। उनका कष्ट सहन और त्याग—बलिदान—विशुद्ध नहीं था। अकसर उसमें अधिकार, पद, सत्ता तथा उनके साथ आने वाले आर्थिक एवं अन्य सुविधाओं की लालसा के धब्बे होते थे।

आज जब सत्याग्रही को न केवल बहुमत बल्कि प्रायः अपनी ही जाति, उसकी विद्वेषभावना तथा प्रादेशिक वा धार्मिक राष्ट्रीयता के विरोध में खड़ा होना और काय करना है तब ऐसा असहयोग वा निष्क्रिय प्रतिरोध काम नहीं देगा। उसको अपनी ही भावनाओं से युद्ध करना है। उसके लिए यह अत्यन्त कठिन है कि वह स्वजनों और मित्रों के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति से विचलित न हो जाय, विशेषतः एक ऐसी लड़ाई में जिसके बारे में वह जानता है कि उसके बीज जान-बूझकर प्रतिपक्षियों द्वारा बोये गये थे। जरा प्रबलता से सोचने पर वह यह सोचकर सन्तुष्ट हो सकता है कि उसकी जाति के साथ अन्याय किया जा रहा है। उत्तेजना और क्रोध के तूफान में वह अपने अहिंसा-धर्म को आसानी से भूल

जा सकता है और जिसे वह उचित प्रतिकारात्मक हिंसा समझता है उसे ग्रहण कर ले सकता है।

इस प्रतिकारात्मक हिंसा से अगले युद्ध में निश्चित रूप से वह मूल हिंसा पैदा होगी जिसका प्रतिकार वा प्रतिरोध वह करना चाहता है। जैसा कि युद्ध में होता है, उसी प्रकार इस साम्प्रदायिक कलह में भी बाद में आने वाले प्रत्येक विस्फोट में प्रयुक्त होने वाले साधन और विधियाँ अधिकाधिक निर्दय और अमानुषिक होती जाती हैं। परिणाम यह है कि ऐसा कोई भयावह कृत्य नहीं है जो इस युद्ध में शामिल तीनों जातियों द्वारा न किया जा रहा हो। लोग क्रोध में इस प्रकार अन्धे हो रहे हैं कि एक जाति अपने ही हितों एवं स्वार्थों को हानि पहुँचाने में नहीं हिचकिचाती बशर्त्ते विरोधी जाति को उससे ज्यादा हानि पहुँचती हो। इस अन्वेषन में लोग नवीन राष्ट्र की नींव को ही हिला रहे हैं और अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रता को खतरे में डाल रहे हैं। सरकार पंगु हो रही है और अपना संचालन करने में असमर्थ है। भोजन, वस्त्र, आश्रय के अभाव की प्रमुख समस्याएँ बिना हल के, अछूती, पड़ी हैं। अपनी उत्तेजना के प्रवाह में जनता ने अपने को स्वयं उन चीज़ों से रहित कर दिया है जिनकी उसे सबसे ज़्यादा ज़रूरत है।

गांधी जी अनुभव करते हैं कि बदले और प्रतिहिंसा के सम्प्रदायवाद के दूषित चक्कर से केवल सत्याग्रह हमें बचा सकता है। पर यह सत्याग्रह केवल असहयोग या निष्क्रिय प्रतिरोध न होगा। वह सच्चे और असली मार्कावाला सत्याग्रह होना चाहिए। उसे केवल निषेधात्मक शब्दों में नहीं प्रकट किया जा सकता। जैसा कि शब्द से प्रकट है, उसका एक ही अर्थ हो सकता है सत्य और प्रेम का क्रियात्मक पालन और अनुसरण। समस्त जीवन एक है और 'हम सब एक दूसरे के हैं', इस चेतना से वह पैदा होता है। यह प्रेम घृणा नहीं जनता, शत्रुता नहीं जनता। इसमें अपने और पराये का पक्षपात या विद्वेष नहीं है। इसमें न कोई हिन्दू है, न मुसलमान या सिख, न कोई यहूदी है न गैरयहूदी, न हीदेन (मूर्तिपूजक

गैरईसाई) है, न ईसाई । ऐसा प्रेम एक भावनामात्र नहीं है; न वह कोई बौद्धिक विश्वास मात्र है जो तर्क और दलील से प्राप्त हो । वह तो एक क्रियाशील,एक ज्वलन्त शक्ति है, जो (गांधी जी का विश्वास है कि) केवल ईश्वर पर परमनिर्भरता से ही प्राप्त होती है ।

ईश्वर और संसार का नैतिक शासन

ईश्वर के सम्बन्ध में गांधी जी की धारणा उससे कहीं व्यापक है जितनी सर्वसामान्य लोगों की है । उनका विचार है कि जो कोई विश्व की नैतिक सत्ता, नैतिक शासन में विश्वास रखता है, वही ईश्वर में विश्वास रखता है । नियम और नियामक एक ही है । जो नैतिक नियम में निष्ठा रखता है वही इस क्रियात्मक, चेतन, प्रेम में विश्वास रखता है—उस प्रेम में जो मित्र और शत्रु में विभेद नहीं जानता, जो शत्रुता से परिचित नहीं है ।

फिर नैतिक नियम में निष्ठा रखने वाला पराजय जानता ही नहीं । सत्कर्म का, उचित कार्य का बाह्य और तात्कालिक परिणाम जो हो, वह कभी असफल नहीं हो सकता । विशिष्ट योजनाएँ असफल हो सकती हैं पर नीति-युक्त कर्म, सदाचरण, कभी असफल नहीं होता । जिस प्रेम की जड़ नैतिक नियमों में समाई हुई है वह उसके लिए किसी भी बलिदान को अधिक नहीं समझता । वह उत्पीड़क और उत्पीड़ित के बीच धीर और निर्भय भाव से खड़ा होता है ।

इस तरह आज गांधी जी हमसे जो कुछ चाहते हैं वह कोई यांत्रिक कर्म या निष्क्रियता नहीं है । वह उस बलिदान और कष्ट-सहन को भी नहीं चाहते जो कांग्रेस वालों और देश ने एक बार किया या उठाया । स्वतंत्रता के युद्ध में क्रियाशील कार्यकर्ताओं को खतरे उठाने पड़े, पर वे वही खतरे थे जो एक औसत सैनिक को हर युद्ध क्षेत्र में उठाने और बर्दाश्त करने पड़ते हैं । आज इस साहस की माँग नहीं की जा रही है; आज़ो व्यक्ति से पूर्ण निर्भयता की माँग की जा रही है जिसमें वह बिना किसी

समूह के सहयोग या सहायता के बिल्कुल अकेले भी खड़ा हो सके। ऐसे साहस के लिए सन्तों की शहादत की आवश्यकता है।

इसी भावना, इसी स्पिरिट से गांधी जी और उनकी स्फूर्ति से कुछ और लोगों ने नोआखाली में काम किया। उन्होंने बिहार में, फिर वही काम किया। हाल में, कलकत्ता में गांधी जी के अनशन से प्रेरणा पाकर बंगाल के युवकों और कांग्रेस-कर्मियों ने शान्ति-सेना का संघटन किया। इसमें सभी जातियों के लोग थे। शान्ति के इन दूतों पर आक्रमण किये गये और राष्ट्र ने कुछ बहुमूल्य आत्माओं को खो दिया। परन्तु उनका शहादत व्यर्थ नहीं गई। शान्ति स्थापित हुई और कलकत्ता में शान्ति स्थापित होने के कारण समस्त बंगाल, पूर्व और पश्चिम, साम्प्रदायिक झगड़ों की भयानकताओं से बच गया।

किन्तु कलकत्ता, बिहार और बंगाल जो शान्ति भोग रहे हैं वह अनिश्चित है। हमें अनुभव करना चाहिए कि भारत में शान्ति अखण्डनीय है। केवल गांधी जी ही आज दोनों देशों और दोनों जातियों को बचा सकते हैं। दोनों सरकारों ने अपनी सेना और पुलिस की सहायता से इस उन्माद पर नियंत्रण करने का यत्न किया। उसका जो परिणाम हुआ, वह निराशाजनक है। बन्दूकें दंगों को दबा सकती हैं पर वे लोगों को सहिष्णु और विवेकवान होना नहीं सिखा सकतीं। इन सरकारों के मंत्रियों या सदस्यों को नम्रतापूर्वक अपनी मर्यादा—सीमा—स्वीकार करनी चाहिए और उन्हें गांधी जी के हाथ मजबूत करने चाहिएं। उनके लिए पुलिस और सैनिक दलों का तोड़ना जरूरी नहीं है। पर उन्हें उनमें बहुत ज्यादा निष्ठा भी नहीं रखनी चाहिए। हमें गांधी जी को स्वनिर्वाचित वातावरण में अपनी योजना कार्यान्वित करने का अवसर देना चाहिए।

गांधी जी के कार्य में सफलता की दो शर्तें

गांधी जी के कार्य—'मिशन'—के जल्द सफल होने के लिए दो शर्तें जरूरी हैं। पहली यह कि भारत सरकार जनता में यह विश्वास पैदा

करे कि वह पाकिस्तान में फँसे हुए अल्पमत के लोगों की हित-रक्षा में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति और साधन लगाने को तैयार है और उसके योग्य भी है। तथा वह उन्हें सुरक्षित रूप से निकाल ला सकती है। आज तो लोगों में यह दुर्भाग्यपूर्ण भावना फैलती जा रही है कि पाकिस्तान सरकार के प्रति हमारी सरकार की नीति बड़ी दुर्बल, अस्थिर और अनिश्चित है। यह विश्वास चाहे कितना ही निराधार क्यों न हो पर जब यह फैल गया है तो सरकारी नीति की दृढ़ता के निश्चित प्रमाण-द्वारा उसे दूर किया जाना चाहिए। यदि लोगों को विश्वास हो जाय कि उनके उचित हितों की रक्षा सरकार करेगी तो लोग कानून अपने हाथ में लेना बंद कर देंगे।

दूसरी शर्त यह है कि शरणार्थी एक आफत, एक बला न समझे जायँ। यह अनुभव किया जाना चाहिए कि जो हिन्दू पाकिस्तान से भग आये हैं वे सदा कांग्रेस के प्रति तथा अखण्ड भारत के आदर्श के प्रति वफ़ादार रहे हैं। हममें से कोई भी इसी स्थिति में हो सकता था। यह उनका पाप नहीं था कि वे एक ऐसे प्रदेश में पैदा हुए जो आज विदेशी क्षेत्र हो गया है। भारत का विभाजन स्वीकार करने का जो निर्णय हुआ उसके वे निर्दोष और असहाय शिकार हो गये। इसलिए कांग्रेस सरकारें — केन्द्र में और प्रान्तों में—उनकी हिफ़ाज़त और सम्मान-रक्षा के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी हैं। अगर उनके बसाने की उपयुक्त योजनाएँ बनाई जायँ और जनता से सहायता का आवाहन किया जाय तो मुझे विश्वास है कि लोग उसका उत्तर देंगे और राष्ट्रीय जीवन में शरणार्थियों को मिला लेने में कोई विशेष कठिनाई न होगी। पर उनको अवांछनीय विदेशी समझकर उनसे किसी प्रकार छुटकारा पाने की चेष्टा न न्यायपूर्ण है, न उचित है, न विवेकयुक्त है।

जब सीमाप्रान्त तथा रावलपिंडी में पिछले मार्च में गड़बड़ी शुरू हुई तब से ये शरणार्थी बराबर आते रहे हैं। हमारे पास इसके लिए पर्याप्त समय था कि ज्यों-ज्यों वे आते हम उनको बसाते जाते पर वे व्यक्तिगत उदारता के भरोसे छोड़ दिये गये जो इस समय साम्प्रदायिक उदारता का

रूप ग्रहण कर चुकी थी। अधिकारियों ने इस मामले में कुछ उत्साह नहीं प्रकट किया। आज हमें इस गलती को सुधारना है और उनके बसाने को राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य बना देना है।

शरणार्थियों का कर्त्तव्य

उधर शरणार्थियों को भी भारत सरकार की कठिनाइयाँ अनुभव करनी चाहिएँ और अपनी अधीरता और कड़ुआहट में क़ानून को अपने हाथ में नहीं ले लेना चाहिए और जो राज्य उनकी रक्षा कर रहा है उसी को खतरे में नहीं डाल देना चाहिए। यदि वे चाहते हैं कि सरकार यहाँ और पाकिस्तान में—दोनों जगह—उनके हितों की रक्षा करे तो उनको हर तरह उसके हाथ मज़बूत करने चाहिएँ—उसे शक्तिमान बनाना चाहिए। यह सच है कि जो कुछ विपत्ति उन पर आई है उसके कारण वे सरकार और भारतीय जनता की पूर्ण सहानुभूति और सहायता के पात्र हैं पर यह भी उतना ही सही है कि व्यक्तिगत उन्मत्तताओं और प्रतिहिंसाओं के द्वारा वे अपनी भावी सुरक्षा और समृद्धि की जड़ खोद रहे हैं।

इसलिए उनका प्रथम कर्त्तव्य भारत में साम्प्रदायिक स्थिति को सरल बनाने में सरकार के साथ पूर्ण और हार्दिक सहयोग करना है। ऐसा करके वे न केवल अपना हित-साधन करेंगे वरं पाकिस्तान में बिखरे अल्पसंख्यकों (हिन्दू-सिखों) की भी रक्षा करेंगे।

यदि वे ऐसा करेंगे तो जिस सीमा तक करेंगे उस सीमा तक वे सरकार को वर्तमान बुरी स्थिति पर सभ्य, प्रजासत्तात्मक और प्रभावशाली ढंग से क़ाबू पाने में सहायक होंगे। यदि हम दुर्बल, ढिलमिल और प्रतिहिंसापूर्ण हुए बिना, कमज़ोरी दिखाये बिना दृढ़ और मित्रतापूर्ण रुख ग्रहण करें तो हम भारत में ऐसा मुस्लिम सार्वजनिक मत पैदा कर सकते हैं कि उचित रूप में उसे संघटित और संचालित कर हम पाकिस्तान पर शांतिप्रद और सभ्यकारक प्रभाव डाल सकते हैं। यदि यह सब किया जाय तो गांधी जी पंजाब, सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान और सिंध में अपनी

अहिंसा के संदेश का प्रचार करने के लिए स्वतंत्र हो जायँगे। केवल इस ढंग से जातियाँ अपने को बचा सकती हैं और दोनों उपनिवेश अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रता का उपभोग कर सकते हैं। बदले और प्रतिहिंसा का मार्ग प्रतिक्रियावाद, अंधकार और बरबादी का मार्ग है। गांधी जी का रास्ता बुद्धिमानी, निष्ठा और प्रेम का रास्ता है।

हमारे नये प्रकाशन

१. सेवा-धर्म

[ले०—श्री अप्पा पटवर्धन। अनु० श्री हरिभाऊ उपाध्याय]

आज जब राष्ट्र की स्वतंत्रता के यज्ञ का एक युग समाप्त हो गया है और हम आशा और विश्वास के साथ अपने देश का बोझ अपने हाथों में ले रहे हैं तब राष्ट्र-निर्माण के गुरुतर कार्य के लिए हज़ारों सेवाभावी, आत्मनिरत, कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। उनको उचित मार्ग बताने में यह पुस्तक गहरी अँधियारी में चमकने वाले ध्रुव का काम देगी। इस पुस्तक के लेखक ही इस पुस्तक की सिफारिश हैं। अप्पा साहब हमारे देश के अत्यन्त सजग, विवेकवान और आत्मार्पित नेताओं में एक हैं। जन-सेवा में वह निमग्न हैं। गांधी-सेवा-संघ-जैसी विचारवान और जाग्रत सेवकों की संस्था के वह अध्यक्ष हैं। उनका जीवन ही एक महाग्रंथ है। इस पुस्तक में उन्होंने हर प्रकार के सेवा-कार्य की गहरी विवेचना की है और सेवकों की कठिनाइयों, गुणदोष, मोह, क्षेत्र आदि पर गहरा प्रकाश डाला है। श्रेष्ठ जीवन-निर्माणकारी पुस्तक। सवा दो सौ पृष्ठ; सुन्दर छपाई; दोरंगा कवर। मूल्य सवा दो रुपये।

२. समग्र ग्रामसेवा की ओर

[ले०—श्री धीरेन्द्र मजूमदार। भूमिका लेखक—राष्ट्रपति कृपलानी]

यह महाग्रंथ अखिल भारतीय चर्खा संघ के मंत्री, रणीवाँ आश्रम के संचालक, ग्रामजीवन के हर पहलू के विशेषज्ञ तथा गांधी जी के एक विश्वसनीय और तपे हुए कार्यकर्ता श्री धीरेन्द्र भाई के पच्चीस वर्षों के सेवानिरत जीवन के अनुभवों और विचार-मंथन का प्रसाद है। इसमें गाँवों की पुनर्रचना की समस्या पर व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। ग्रामजीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिस पर लेखक ने प्रकाश न डाला हो; कोई ऐसी बात नहीं है जो उनकी पकड़ से छूट गई हो; भारतीय ग्राम-जीवन की सामाजिक, आर्थिक, नैतिक,

शैक्षणिक—मतलब प्रत्येक समस्या पर विचार करके उनके ऐसे सरल और विश्वासप्रद हल लेखक ने सुझाये हैं कि इस विषय में उनके ज्ञान की गहराई पर मुग्ध होना पड़ता है। यहाँ उड़ती हुई बातें नहीं हैं; प्रत्येक विषय का विशद पर वैज्ञानिक विवेचन है जो एक ओर अंकों तथा दूसरी ओर स्वयं लेखक के दीर्घकालिक अनुभव से पूर्ण है। ग्रामजीवन की पुनर्रचना के प्रत्येक कार्यकर्ता, प्रत्येक देश-सेवक, ग्रामीण अर्थशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अवश्य पठनीय। दो खण्ड। चौहत्तर अध्याय; लगभग आठ सौ पृष्ठ। कपड़े की मोटी मजबूत जिल्द और अत्यन्त आकर्षक बहुरंगा आवरण। मूल्य : केवल आठ रुपये।

३. युगाधार गांधी

[लेखक—श्री रामनाथ 'सुमन']

युग-पुरुष गांधी के जीवन का प्रामाणिक अध्ययन; उनकी पूरी और विस्तृत जीवनी। उनके जीवन का रहस्य; उनके विविध रूपों की व्याख्या; अध्ययन, विश्लेषण और संस्मरण। जीवनी-लेखन-कला में लेखक का क्या स्थान है, इसे हिन्दी पाठक जानते हैं। अप-टु-डेट तालिका; चित्र तथा मनोरम दोरंगे कवर के साथ। लगभग दो सौ पृष्ठ। मूल्य : दो रुपये।

४. अहिंसक क्रान्ति

[लेखक—आचार्य कृपलानी]

अहिंसक समाज-व्यवस्था के निर्माण का वैज्ञानिक निरूपण। समाज के मूल में व्याप्त अहिंसा या प्रेम-शक्ति के उपयोग की समस्या। अहिंसक क्रान्ति के सम्बन्ध में प्रामाणिक विवेचन। मूल्य : दस आने।

इनके अतिरिक्त श्रेष्ठ जीवन-निर्माणकारी साहित्य तथा सुमन जी की रचनाओं के एक मात्र प्रकाशक—

साधना-सदन, इलाहाबाद